कल्याण

भगवान

वर्ष ४५] * * [अङ्क १

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

संस्करण, १,६५,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर आश्विन, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९७, सितम्बर १९७१

चित्र-सूची

वार्षिक मूल्य भारतमें १०.०० विदेशमें १६.००(१८ शिलिंग) } जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥ { साधारण प्रति भारतमें ६० पैसे विदेशमें ६० १.०० (१५ पेंस)

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार। सम्पादक—चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर
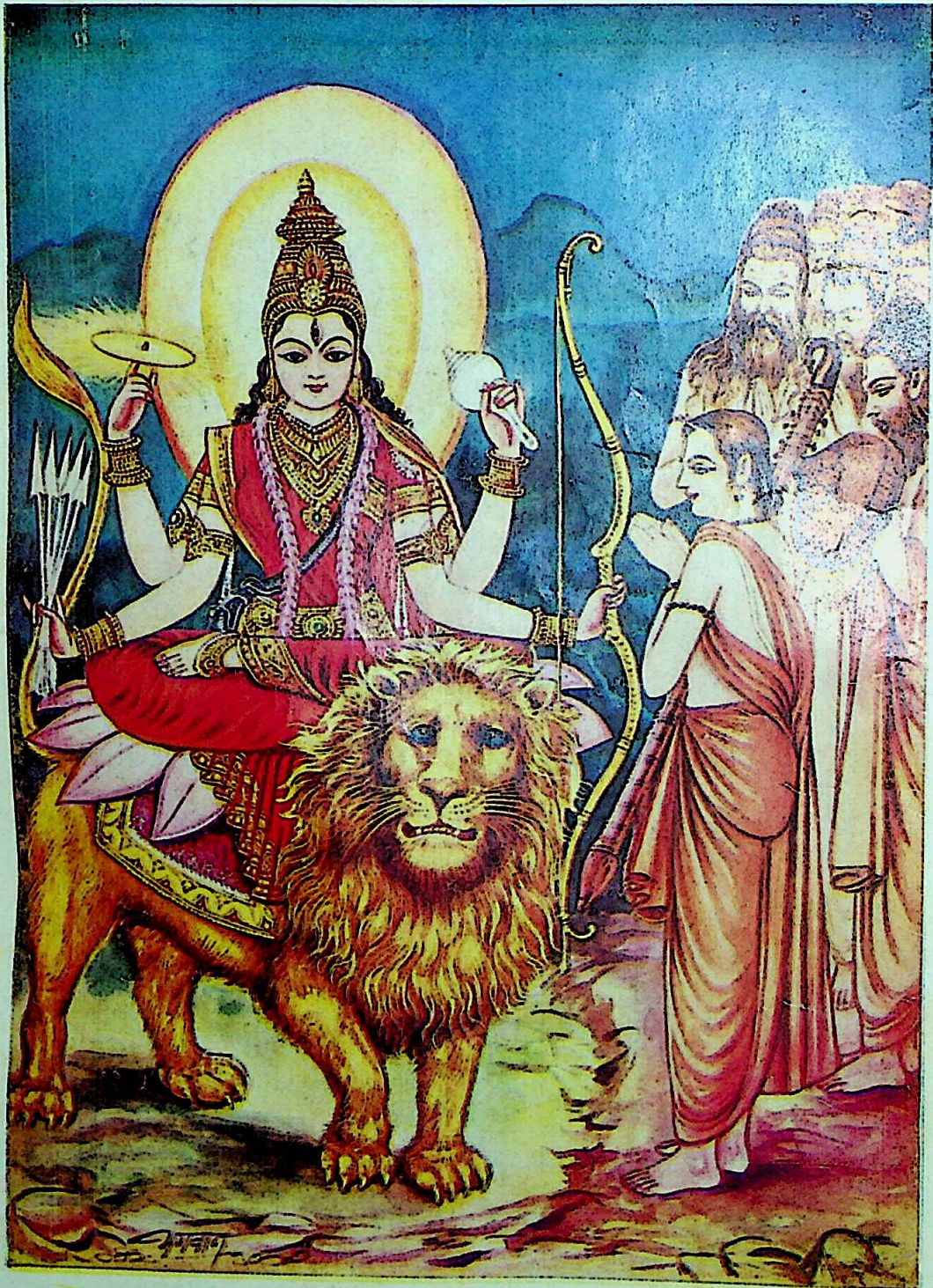
परविद्यास्वरूपा भगवती दुर्गा

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
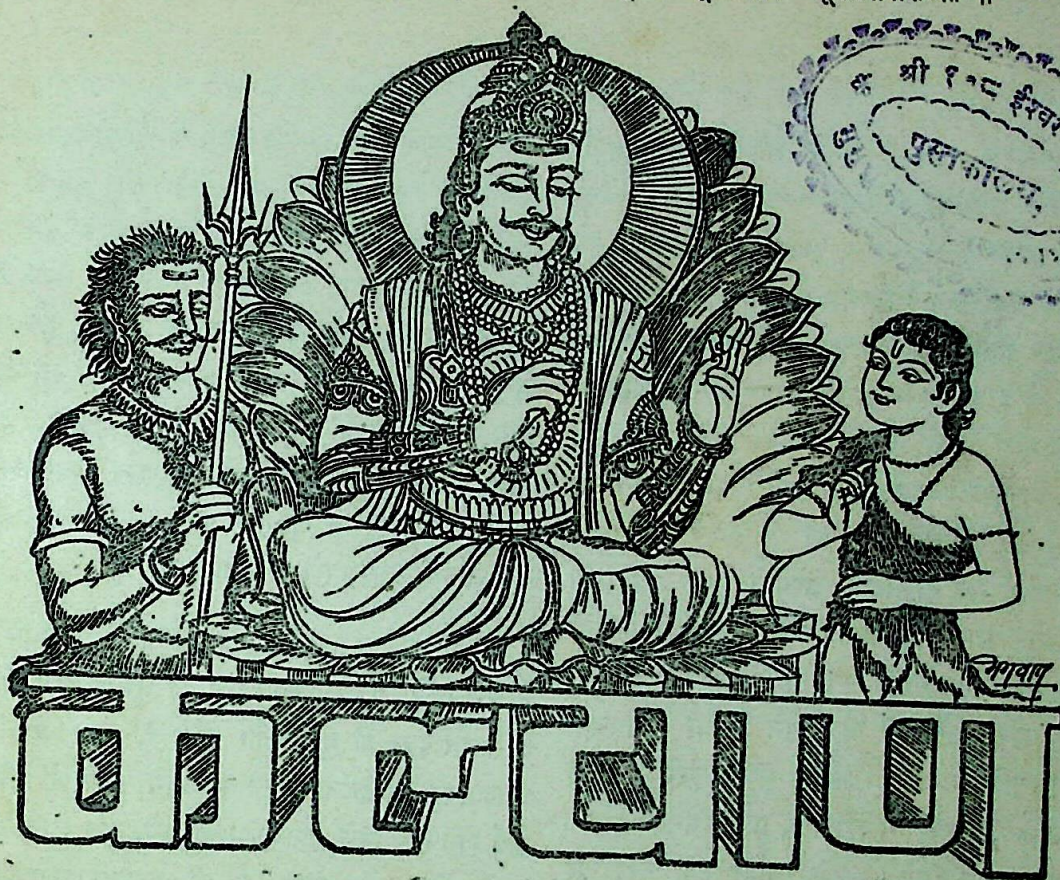
अधश्चोर्ध्वं हरिश्चाग्रे देहेन्द्रियमनोमुखे । इत्येवं संस्मरन् प्राणान् यस्त्यजेत्स हरिर्भवेत् ॥

(अग्निपुराण)

वर्ष ४५ } गोरखपुर, सौर आश्विन, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९७, सितम्बर १९७१ { संख्या ९ पूर्ण संख्या ५३८

भगवतीका पराविद्या रूपमें स्तवन

या मुक्तिहेतुरविचिन्त्यमहाव्रता त्व-
मभ्यस्यसे सुनियतेन्द्रियतत्त्वसारैः ।
मोक्षार्थिभिर्मुनिभिरस्तसमस्तदोषै-
र्विद्यासि सा भगवती परमा हि देवि ॥

(श्रीदुर्गासप्तशती ४ । ९)

देवि ! जो मोक्षकी प्राप्तिका साधन है, अचिन्त्य महाव्रतस्वरूपा है, समस्त दोषोंसे रहित, जितेन्द्रिय, तत्त्वको ही सार वस्तु माननेवाले तथा मोक्षकी अभिलाषा रखनेवाले मुनिजन जिसका अभ्यास करते हैं, वह भगवती परा विद्या आप ही हैं ।

ज्ञानयोगके साधनमें मनके संयमको प्रधानता दी गयी है। उसमें 'मनोनाश'तकका आदेश है। यह सर्वथा उचित है कि काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद आदिका आत्यन्तिक परित्याग हो जाय; किंतु अनुभवसे यह ज्ञात होता है कि इन दोषोंका परित्याग बड़ा ही कठिन है। अतएव भक्तोंने आदेश दिया है कि इन दोषोंके नाश करनेमें अपनी शक्तिका उपयोग न करके इनके विषयको बदल दिया जाय। मन, इन्द्रिय और शरीर—इन तीनोंके द्वारा जो भी क्रियाएँ हों, उनको हम रोक न सकें तो उनके विषयको बदल दें। इससे सरलतासे काम हो जायगा। जैसे मनका संयम नहीं होता, मनको मारनेकी शक्ति हममें नहीं है तो क्या करें? इसका उत्तर है कि अपने मनको भगवान्‌के रूपकी स्मृतिमें लगा दें। मनका संयम करनेका प्रयत्न मत कीजिये, मनको रोकिये मत, प्रत्युत मनकी वृत्तिके प्रवाहको चलने दीजिये,—वह कभी रुके नहीं; पर उस वृत्तिका प्रवाह भगवान्‌की ओर हो जाय। गङ्गाकी धारा जबसे प्रवाहित हुई, तबसे आजतक रुकी है क्या? न जाने किस कालसे वह अनवरत बही चली जा रही है और न जाने कबतक बहती चली जायगी। इसी प्रकार हमारे चित्तकी वृत्तिधारा रुके नहीं—वृत्तियोंको रोकनेकी आवश्यकता नहीं, उन्हें चलने दिया जाय। पर उन्हें चलने दिया जाय केवल भगवान्‌के रूप-समुद्रकी ओर। अर्थात् जो मन संसारके भोगोंमें लगा है, उसे भगवान्‌में लगा दें। मन सौन्दर्य देखना चाहता है, पर भगवान् जितने सुन्दर हैं, उतना कोई सुन्दर नहीं; वह ऐश्वर्य देखना चाहता है, भगवान्‌के समान ऐश्वर्य कहीं भी नहीं। जो कुछ भी पूर्णसे पूर्णतम है और जो अनन्त है, वह सब भगवान्‌में है। बस, मनको भगवान्‌में लगा दें।

आप कहेंगे, 'हमारे मनसे कामना जाती नहीं।' बड़ी अच्छी बात है। कामनाका कभी नाश मत कीजिये; भगवान्‌से कभी मत कहिये कि 'हमारी कामनाका नाश आप कर दीजिये।' भगवान्‌से यही कहिये—'नाथ! आपका स्मरण होता रहे और आपके स्मरणकी कामना निरन्तर बनी रहे।' भगवान्‌के स्मरणकी कामना इतनी प्रबल हो जाय कि उसकी पूर्ति न होनेपर मन बेचैन हो जाय। जैसे भोगोंमें रचे-पचे लोग भोग-कामनाकी पूर्ति न होनेपर क्षुब्ध हो जाते हैं, वैसे ही भगवान्‌के स्मरणकी कामनाकी पूर्ति न होनेपर मन क्षुब्ध हो जाय—परम व्याकुलता जग जाय—'तद्विस्मरणे परमव्याकुलता।'

क्रोध नहीं छूटता—इसकी चिन्ता मत कीजिये। क्रोधको रहने दीजिये। अपने द्वारा जो बुरे आचरण होते हैं, अपने द्वारा जो बुरे विचार होते हैं, अपने द्वारा जो भगवान्‌की अवहेलना होती है, अपने द्वारा जो अवैध कर्म होते हैं, उनके प्रति क्रोध कीजिये, खूब कीजिये। अपने दोष कभी सहन न हों, उनकी तनिक-सी छाया भी दिखायी पड़ते ही उनके प्रति क्रोधका भाव जग जाय। जो व्यक्ति अपने दोषोंको सह लेता है, वह सहिष्णु नहीं है, वह दोषोंका गुलाम है। दूसरोंके दोषोंको सहना चाहिये, पर अपने दोषोंको कभी क्षमा न करे। अपने दोषोंको कभी सहन न करे। जरा-सा भी दोष आता दीखे तो तत्काल सावधान हो जाय और यह सोचे कि यह आगकी चिनगारी है। आगकी चिनगारी जहाँ-कहीं लग गयी, वहीं प्रचण्ड अग्नि बनकर सबको भस्म कर देनेमें देर नहीं लगायेगी। अतएव अपने दोषकी, अपने अपराधकी जरा-सी भी कहीं कोई बात दिखायी दे तो उसपर क्रोध कीजिये, उसकी हिंसा कीजिये, उसे मारनेकी चेष्टा कीजिये। इस प्रकार क्रोधको रोकनेकी आवश्यकता नहीं—अपने दुर्गुणोंपर क्रोध कीजिये, अपने दुष्कर्मोंपर क्रोध

कीजिये, अपनी दुर्भावनाओंपर क्रोध कीजिये। भगवान्‌की विस्मृति कर देनेवाले चित्तपर क्रोध कीजिये और उससे कहिये—'रे चित्त ! तू या तो नष्ट हो जा या भगवान्‌का स्मरण कर।' ये प्राण भगवान्‌के स्मरणमें लगें, नहीं तो चले जायँ।

लोभके भी नष्ट होनेकी आवश्यकता नहीं है। लोभनीय वस्तु एक ही है—भगवान्। संसारकी किसी भी वस्तुका आप लोभ कीजिये, उसके प्राप्त होनेके बाद वह लोभनीय नहीं रहेगी। वास्तविक लोभनीय वस्तु वह है, जिसके मिलनेपर भी मिलनेकी आतुरता बनी रहे। वह वस्तु है—एकमात्र भगवान्। अतएव भगवान्‌के दर्शनका लोभ कीजिये। कभी जरा-सी झाँकी हो जाय तो उससे तृप्त न होइये। निरन्तर भगवान्‌के दर्शनकी लालसा बनी रहे, उससे कभी संतुष्टि हो ही नहीं।

मोहके भी त्यागकी आवश्यकता नहीं है। मैया यशोदाकी भाँति निरन्तर भगवान्‌के लालन-पालन-सेवा-शुश्रूषामें लगे रहिये। मैया यशोदासे किसीने कहा—'मैया ! तुम्हारे यह लाला क्या हुआ, तू तो मोहमें पड़ गयी। इसके होनेसे पूर्व तो तू वैराग्यकी चर्चा किया करती थी, पर अब तो तुझे रात-दिन यही चिन्ता लगी रहती है कि दही ठीक जमा कि नहीं ? ठीकसे मन्थन हुआ कि नहीं ? मक्खन अच्छा निकला कि नहीं ? लालाके लिये वस्तुएँ सँजोनेमें ही तू रात-दिन लगी रहती है।' मैयाने उत्तर दिया—'भगवान् नारायणकी कृपासे मेरा यह मोह निरन्तर बना रहे।' बस, इसी प्रकार हम भी भगवान्‌की सेवामें मोह करें। रात-दिन भगवान्‌की सेवाकी चिन्ता बनी रहे, भगवान्‌की सेवाका मोह समस्त दूसरे मोहोंको खा जाय और कभी यह मोह छूटे ही नहीं।

मद बड़ी बुरी चीज है; पर 'हम भगवान्‌के हैं' यह अभिमान निरन्तर बना रहे—

अस अभिमान जाइ जनि भोरें। मैं सेवक रघुपति पति मोरें॥

सबसे बड़ा दोष है—वासना। वासना जबतक रहती है, तबतक मुक्ति नहीं होती। अतएव वासनाका क्षय होना चाहिये। पर भक्तलोग कहते हैं—'हमारी वासनाका कभी क्षय न हो।' वे सदा यह मनाते हैं कि भगवान्‌को, अपने प्रिय लालाको, सखाको देखनेकी, उनके साथ खेलनेकी, उनके साथ रसालाप करनेकी, उनका स्मरण करनेकी, उनकी सेवा करनेकी हमारी वासना निरन्तर बनी रहे। यह वासना नष्ट हो गयी तो फिर क्या हुआ, कुछ भी नहीं। अतः यह वासना निरन्तर बनी रहे।

इस प्रकार अपनी समस्त इन्द्रियोंको और इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाले सम्पूर्ण विकारोंको—काम, क्रोध, लोभ आदिको भगवान्‌के साथ जोड़ दिया जाय तो ये सब साधन बन जाते हैं। जहाँ भगवान्‌की स्मृति मनमें आयी—जहाँ भगवान् मनमें आकर बैठ गये, वहाँ जगत्‌के हटनेमें विलम्ब नहीं होगा। वैसे जगत्‌को हटाने चलेंगे तो उसकी स्मृति और अधिक तीव्र होगी। हम जिस वस्तुको हटाना चाहते हैं, वह बार-बार याद आती है। इसको हटाना है, इसको हटाना है ऐसा चिन्तन होनेसे वे वस्तुएँ हटानेके नामपर और अधिक याद आयेंगी। संसारकी स्मृति हटानेसे नहीं हटेगी। अतएव संसारकी स्मृतिके स्थानपर भगवान्‌की स्मृतिको लाकर बैठा दीजिये, संसार अपने-आप निकल भागेगा—

जो तोहि राम लागते मीठे।
तौ नवरस षटरस रस अनरस ह्वै जाते सब सीठे॥

—जहाँ रामका मिठास आया कि काव्यके नवरस और भोजनके षट्‌रस सब फीके हो जायँगे। बस, यही करना है।

ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश

[पुराने सत्सङ्गसे]

राम ते अधिक राम कर दासा

भगवान्‌की अपेक्षा भी भगवान्‌के भक्त किसी अंशमें ऊँचे माने जा सकते हैं। भगवान्‌की प्राप्तिके लिये सङ्ग, आज्ञाके अनुकूल आचरण, ध्यान, शरणागति एवं सेवा—ये पाँच मुख्य साधन हैं। परंतु इन पाँचोंका भगवान्‌के प्रति प्रयोग करना कठिन है। भक्तके प्रति इनका प्रयोग सुगमतासे किया जा सकता है। फल दोनोंका एक ही है। जो पतिव्रता स्त्री निष्काम-भावसे पतिके प्रति इन पाँचों बातोंका प्रयोग करती है, वह परमात्माको पा सकती है। इसी प्रकार साधक भी परमात्माके सच्चे भक्तके प्रति इन पाँचोंका प्रयोग करके परमात्माको पा सकता है।

इन पाँचों बातोंको भगवान्‌की अपेक्षा भक्तके प्रति करनेमें साधकको सुगमता होती है। इस बातको इस प्रकार समझना चाहिये—

१—भगवान्‌का सङ्ग साधकको नहीं मिल सकता, पर भक्तका सङ्ग सुलभ हो सकता है।

२—भगवान्‌की प्रत्यक्ष आज्ञा नहीं मिल सकती, शास्त्रोंको ही भगवान्‌की आज्ञा मानना पड़ता है; परंतु भक्तसे प्रत्यक्षरूपमें आज्ञा प्राप्तकर तदनुकूल आचरण किया जा सकता है।

३—भगवान्‌की वास्तविक मूर्ति, उनका आँखों देखकर बनाया हुआ चित्र या फोटो नहीं मिलता। अतएव ध्यान करते समय मनमें ऐसी आशङ्का रह सकती है कि 'न जाने भगवान्‌का ऐसा ही स्वरूप है या नहीं।' परंतु भक्तको हम प्रत्यक्ष देख सकते हैं; अतएव उनका ध्यान निस्संदेह रूपसे किया जा सकता है।

४—भगवान्‌की शरण प्रत्यक्षरूपमें नहीं मिलती, पर भक्तकी मिल सकती है।

५—सेवा भी भगवान्‌की प्रत्यक्षरूपमें नहीं मिलती, मूर्तिकी ही सेवा होती है। यद्यपि साधककी भावनाके अनुसार मूर्तिके रूपमें भगवान् ही हैं, तथापि साधककी मूर्तिमें प्रतीक या प्रतिनिधिकी भावना रहती है। ये साक्षात् भगवान् हैं—ऐसी भावना कठिन होती है; परंतु भक्तका प्रत्यक्ष दर्शन करके साधक उनकी सेवा कर सकता है।

इस प्रकार भगवान्‌का सच्चा भक्त भगवान्‌से बढ़कर है। पर सच्चे भक्त उपर्युक्त पाँच बातोंमेंसे सङ्ग एवं अनुकूल आचरणको छोड़कर शेष तीन बातोंका प्रयोग अपने प्रति करनेका निषेध करते हैं।

दम्भ और ईर्ष्याके निराकरणके उपाय

दम्भ और ईर्ष्या साधनामें महान् बाधक हैं। इनके निराकरणके लिये पहला उपाय है—इनमें त्याज्यबुद्धि होनी अर्थात् ये हमारे लिये सर्वथा हानिकारक हैं, यह भाव होना। दूसरा उपाय है—एकान्तमें बैठकर बार-बार ईश्वरके आगे रुदन करना—'हे परमात्मा! विचारके द्वारा इन सबको मैं हटाना चाहता हूँ; मैं चाहता हूँ कि ये दोष मुझमें न रहें। पर मन बड़ा शैतान है। यह दोषोंको छोड़ता नहीं है। विवेक-विचारके द्वारा मैं तो यह चाहता हूँ कि ये दोष मेरेमें न रहें, किंतु मनको ये अमृतके समान प्रिय लगते हैं—दुनियामें उनसे बढ़कर कोई चीज मनको अच्छी नहीं लगती। ऐसी स्थितिमें हे नाथ! मैं आपके शरण आया हूँ। सिवा आपके इन दोषोंके नाशका कोई उपाय नहीं देखता हूँ। आप कृपा करके इनसे मुझे छुटकारा दिलवाइये।'

इस प्रकार अपने दोष देख-देखकर भगवान्‌के सम्मुख फूट-फूटकर रोना चाहिये। किसी अत्यन्त घृणित रोगकी निवृत्तिके लिये जिस प्रकार एक आस्तिक व्यक्ति भगवान्‌के सम्मुख रोता है, वैसे ही इन दोषोंके निवारणके लिये रोना चाहिये। जैसे लज्जा बचानेके लिये द्रौपदीने भगवान्‌को पुकारा था, उसी प्रकार हमें पुकार लगानी चाहिये। जैसे भगवान्‌के विरहमें गोपियाँ एकान्तमें रो उठी थीं और भगवान्‌को पुकार रही थीं, उसी प्रकार हमें पुकार लगानी चाहिये—'हे प्रभो! मैं हैरान हो गया। मैं आपका सेवक हूँ, आप बचाइये। हे हरि! हे नारायण!! आपके रहते आपके सेवककी यह दशा हो रही है।' अपने दोषोंके नाशके लिये यह बड़ा उत्तम उपाय है।

ज्ञान भी इन दोषोंकी निवृत्तिका एक उपाय है। जो कुछ दीख रहा है, वह सर्वथा मिथ्या है—मायामय है। मरुभूमिमें जैसे बिना हुए जल दीखता है, उसी प्रकार यह संसार बिना हुए ही दीखता है। सिनेमाके पर्देपर आनेवाले चित्रोंकी तरह इस संसारको समझना चाहिये। एक विज्ञानानन्दघन परमात्माकी सत्ताका ही अनुभव करना चाहिये। इस साधनसे भी इन दोषोंका नाश सम्भव है।

इन बातोंपर ध्यान देना चाहिये—

साधनामें सफलता मिले, इसके लिये कुछ विशेष बातोंपर ध्यान देना चाहिये, जिनमेंसे कुछ ये हैं—

(१) सांसारिक कार्य—जैसे व्यापारादि रुपये कमानेके उद्देश्यसे करनेसे मन उनमें रम जाता है। इसलिये ऐसे कार्य बहुत सावधानीसे भगवत्प्रीतिके लिये करने चाहिये और वे भी विशेष नहीं; क्योंकि विशेष कार्य करनेसे उद्देश्य परिवर्तित होनेका भय रहता है।

(२) सांसारिक वस्तुओं एवं पुरुषोंका सङ्ग कम करना चाहिये तथा सांसारिक विषयोंकी बात भी कम करनी चाहिये।

(३) बिना पूछे किसीके अवगुण नहीं बताने चाहिये। उत्तम तो यह है कि दूसरेके अवगुणोंकी तरफ ध्यान ही न दिया जाय।

(४) सबसे निष्काम और सम भावसे प्रेम करना चाहिये।

(५) भगवान्‌के नामका जप निरन्तर होता रहे, इसका अभ्यास करना चाहिये। नामजपको कभी छोड़ना नहीं चाहिये। जो इसमें बाधक हों, उन्हींको छोड़कर प्रेमसहित नामजपका निरन्तर अभ्यास बना रहे, ऐसा ही प्रयत्न सर्वदा करना चाहिये। भगवान्‌के नामजपमें इतना तल्लीन हो जाय कि भगवान्‌के दर्शनकी भी परवा न रहे।

(६) किसी परिस्थिति-विशेषकी अपेक्षा न रक्खे, यहाँतक कि अपने शरीरके निर्वाहकी भी परवा नहीं करनी चाहिये। शरीरमें अहंकार रहनेसे उसका निर्वाह करनेकी चिन्ता होती है। इस दायित्वको भगवान्‌पर छोड़कर निश्चिन्त हो जाना चाहिये।

एक दिन मृत्यु अचानक आ जायगी और हम कुछ भी नहीं कर सकेंगे। यहाँसे अचानक विदा होना पड़ेगा। इसीलिये जबतक मृत्यु दूर है और यह शरीर नीरोग है, तबतक जो करना हो, सो कर लेना चाहिये। नहीं तो बड़ी फजीहत होगी। बड़े खतरेकी बात है। लाख रुपये खर्च करनेपर भी एक मिनट नहीं मिलेगा। ऐसे अमूल्य समयको मिट्टीमें नहीं मिलाना चाहिये।

परमार्थकी पगडंडियाँ

[नित्यलीलालीन परम श्रद्धेय श्रीभाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) के अमृत-वचन]

वह मनुष्य सचमुच अभागा है, जिसका मन भगवान्‌को भूलकर संसारके प्राणि-पदार्थोंमें आसक्त रहता है—

सुनहु उमा ते लोग अभागी। हरि तजि होहिं विषय अनुरागी॥

जिसका मन संसारके प्राणि-पदार्थोंमें अटका नहीं है; जो मनसे भगवान्‌में प्रेम करना चाहता है, वह पवित्र मनवाला पुरुष अभागा कैसे ? एक वही तो असली भाग्यवान् या सौभाग्यशाली है—

रमा बिलासु राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी॥

अहह धन्य लछिमन बड़भागी। राम पदारबिंदु अनुरागी॥

जो मनुष्य रामका होकर या रामका होनेकी इच्छावाला होकर भी अपनेको अभागोंमें मानता है, वह भूलसे रामका तिरस्कार करनेवाला होता है।

× × × ×

तुम मनसे भी किसीका बुरा नहीं सोचना चाहते हो, वाणी और व्यवहारसे तो किसीका बुरा करते ही नहीं, यह बहुत ही उत्तम तथा भगवान्‌का प्रीति-सम्पादन करनेवाली बात है।

जिस प्रेममें किसी लौकिक, पारलौकिक कामना-वासनाका कलङ्क नहीं होता, जो शुद्ध तथा सूक्ष्मतर होता है, वह प्रतिदिन-प्रतिक्षण बढ़ता ही जाता है।

मनुष्यको कभी यह नहीं सोचना चाहिये कि वह भगवान्‌का नहीं है। तुम भगवान्‌के हो, भगवान् सदा तुम्हारे हैं, उनपर तुम्हारा पूर्ण अधिकार है—इसमें जरा भी संदेह कभी नहीं करना चाहिये। भगवान् तो प्राणिमात्रके सहज सुहृद् हैं—

'सुहृदं सर्वभूतानाम्'।

× × × ×

भगवत्कृपाका आश्रय करनेपर जीवनमें कभी कोई अपवित्रता, मलिनता, काम-क्रोधादि विकारोंके कारण होनेवाले दोष आदि नहीं आ सकते। भगवत्कृपासे अपने-आप वह सारी बड़ी-से-बड़ी कठिनाइयोंसे पार होता जाता है।

किसी भी बहाने कुछ भगवत्स्मृति तथा भगवच्चर्चा हो जाय, यह सौभाग्य समझना चाहिये। विषय-चर्चा बड़ी सुखकर होनेपर भी परम हानिकर है तथा भगवच्चर्चा कहीं कुछ कठिन प्रतीत हो तो भी परम कल्याणमयी है।

भगवान्‌की अनन्त कृपा है—सभीपर है। उस कृपाका सदा अनुभव होता रहे तो मनुष्य कभी भी, किसी भी हालतमें दुखी नहीं हो सकता। भगवत्कृपाकी ओर न देखकर मनुष्य संसारके प्राणि-पदार्थोंकी ओर देखता है तथा उनसे सुखी होना चाहता है, इसीसे उसको बार-बार दुःखोंका भोग करना पड़ता है; क्योंकि इनमें दुःख ही भरा है। सारी सुख-शान्ति तो एकमात्र श्रीभगवान्‌में है—आत्मामें है।

× × × ×

मनुष्यका शरीर अत्यन्त क्षणभङ्गुर है—कमलके पत्तेपर जलकी बूँदके समान है। जरा-सा हिलते ही समाप्त। संसारका यही नग्न रूप है। इसे देखते हुए भी संसारसे वैराग्य नहीं होता—यही हमारा बड़ा प्रमाद है। संसारमें, बस, एक भगवान् ही सार हैं।

जगत्का स्वरूप तो सामने है; परंतु यह निश्चय समझो कि इसमें सब जगह भगवान् व्याप्त हैं और सर्वत्र भगवान्की लीला हो रही है। लीलामें सृजन भी होता है, संहार भी। दोनोंमें भगवान्की झाँकी करनी चाहिये।

जगत्से उपरति और भगवान्की अखण्ड स्मृति—ये ही दो चीजें जीवनमें आनी चाहिये।

संसारको भूल जाय और भगवान् निरन्तर याद रहें—यही तो करना है। पर यह भगवान्की कृपासे ही होगा।

× × × ×

प्रभुके प्रेमको कोई भी अपनी शक्ति-सामर्थ्यसे नहीं प्राप्त कर सकता, यह सर्वथा सत्य है; प्रभुकृपासे ही प्रेम मिलता है; पर प्रभुकृपा तो अनन्त है ही। उसपर विश्वास करना चाहिये। प्रभु नहीं सुनते, यह बात नहीं है। वे सब सुनते हैं, पूरा सुनते हैं, पर करते हैं अपने मनकी; क्योंकि वे वही करते हैं, जिसमें हमारा यथार्थ हित होता है। अतएव हमको उनके मङ्गलविधानमें सदा संतुष्ट तथा प्रफुल्लित रहना चाहिये।

अपना सारा प्रयोजन प्रभुसे ही होना चाहिये और उन्हींके नाते संसारके प्राणि-पदार्थोंसे प्रभु-प्रीत्यर्थ ही केवल सेवाका सम्बन्ध होना चाहिये। प्राणि-पदार्थोंसे सुखकी आशा नहीं है, यह ठीक है; परंतु वे सुख दें तो भी प्रभुके सम्बन्धसे ही उनसे सम्बन्ध होना चाहिये।

× × × ×

प्रेमके राज्यमें अपनेमें त्रुटि दिखायी देती है और त्रुटि ही दिखायी देनी चाहिये। प्रेममें कभी पूर्णता होती ही नहीं। परंतु प्रेम वही यथार्थमें प्रेम होता है, जो केवल भगवान्से हो। भगवान् ही एकमात्र प्रेम करनेयोग्य हैं। जो मनुष्य भगवान्का आसन लेना चाहता है, वह तो नीच है ही; लोगोंको धोखा देनेके साथ ही वह स्वयं भी धोखा खाता है।

हमारे सबके परम सुहृद् श्रीभगवान् सदा-सर्वदा सर्वत्र विराजमान हैं, वे नित्य तुम्हारे पास रहते हैं—इस बातपर विश्वास करके उनकी मधुरतम संनिधिका नित्य अनुभव करो। पहले ऐसी दृढ़ भावना करो; फिर अनुभूति होगी।

दयामय तो सिर्फ भगवान् ही हैं, जिनकी दया सदा, सर्वत्र, सबके लिये बरस रही है।

× × × ×

तुम्हारी भगवान्की ओर लगनेकी जो सच्ची लगन है, तुम्हारा दिन-रात अखण्ड भजन करनेका जो मनोरथ है, वह भगवान्की परम प्रसन्नताका हेतु है। जिसपर भगवान् प्रसन्न हैं, जिसपर भगवान्की कृपा है, उसके सारे विघ्नोंका नाश और सारी अनुकूलताओंकी प्राप्ति अपने-आप हो जाती है—

गरुड़ सुमेरु रेनु सम ताही। राम कृपा करि चितवा जाही॥

तुम विश्वास करो, तुमपर भगवान्की बड़ी कृपा है। भगवान्की कृपासे तुम्हें उनपर विश्वास करके

निश्चिन्त और निर्भय हो जाना चाहिये और किसी भी हालतमें अपनी इस निर्भय तथा निश्चिन्त स्थितिसे जरा भी विचलित नहीं होना चाहिये।

× × × ×

हम कहीं भी रहें—भगवान् हमारे बड़े परम सुहृद् हैं, सदा-सर्वत्र हमपर कृपा-दृष्टि रखते हैं। तुम निरन्तर सब स्थितियोंमें सर्वत्र उनकी कृपाके मङ्गल दर्शन करते रहो और प्रसन्नताका स्रोत सदा तुम्हारे मनमें बढ़ता रहे। यह भगवत्-प्रसाद तुम्हारी सारी व्यथाओं और सारे दुःखोंका नाश कर देगा—'प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।' उनकी कृपा सारी दुर्गश्रेणियोंसे पार लँघा देती है, चाहे वे कठिनाइयोंके किले कितने ही ऊँचे और दुर्लङ्घनीय क्यों न हों—'सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।'

× × × ×

साधनका अभिमान करके साधन नहीं करना चाहिये। भगवत्प्रीतिके लिये तथा भगवत्प्राप्तिकी प्रेरणासे की जानेवाली प्रत्येक चेष्टा ही साधन है। साधनका भरोसा नहीं करना है, भरोसा करना है—भगवत्कृपाका।

× × × ×

प्रभु-प्रेम हृदयकी वस्तु है, गुप्त ही रहना चाहिये; तभी उसका मूल्य होता है। परंतु बाह्य चेष्टाओंसे कुछ तो अनुमान हो ही जाता है। जैसे वह किसी मन्दिर, तीर्थस्थान या महात्माके आश्रमपर जाता है, भगवान्‌की बात सुनता है, कुछ पाठ-पूजा करता है—इससे लोग यह अनुमान कर लें कि वह प्रभुका भजन करता है, प्रभुप्रेम चाहता है तो इसमें कोई आपत्तिकी बात नहीं है। हाँ, अपनी ओरसे प्रेमका ढिंढोरा नहीं पीटना चाहिये।

प्रेम वाणीकी वस्तु नहीं है, प्रेम उत्तरोत्तर बढ़नेवाला होता है। प्रेमका स्वरूप बतलाते हुए नारदजीने कहा है—'प्रेम अनिर्वचनीय है, गूँगेके स्वादकी तरह वह बतलाया नहीं जा सकता। वह गुण नहीं देखता, उसमें कामनाका लेश भी नहीं रहता, उसका तार कभी टूटता नहीं तथा वह बड़ा सूक्ष्म होता है।' जो मिटता और रुकता है, वह तो प्रेम ही नहीं है। ऐसा प्रेम एकमात्र भगवान्‌से ही हो सकता है। उत्तरोत्तर बढ़नेवाला प्रेम सदा यही दिखलाता है कि मेरा प्रभुके चरणोंमें प्रेम कहाँ है। मेरे प्रेममें तो कमी-ही-कमी है।

अपने प्रेममें कमी दिखायी देना तो प्रेमका लक्षण है। पर प्रेमास्पद प्रभुका हमारे प्रति असीम प्रेम है—इसमें कभी भूलकर भी संदेह नहीं करना चाहिये। वे तो नित्य ही हमारे सहज सुहृद् हैं, अहैतुक प्रेमी हैं। हम उनके प्रेमका अनुभव करें तथा सदा प्रफुल्लित रहें। प्रभुप्रेम प्रभुकी कृपासे ही मिलता है और वह कृपा सदा-सर्वदा हमपर है ही—हम इसपर विश्वास करें और कृतार्थ हो जायँ।

सच्चे प्रेमका ज्यों-ज्यों विकास होता है, त्यों-त्यों भय, सम्भ्रम, सम्मान, मर्यादा, पूज्यभाव आदि हटने लग जाते हैं। ये मरते नहीं, रहते हैं, दिव्य भावसे रहते हैं। दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर—इनमें मधुर भावमें दास्य, सख्य, वात्सल्य—तीनों रहते हैं और समय-समयपर इनकी क्रिया भी होती है; परंतु मधुर भावकी प्रधानतासे वहाँ इतनी समीपता हो जाती है कि भगवान्‌के साथ भक्त चाहे जैसा विनोद करता है, उन्हें चाहे सो कह देता है, चाहे जैसा बर्ताव कर बैठता है—अपने चरणोंतकका उनके उच्चाङ्गसे स्पर्श करा देता है, उनके द्वारा की हुई मान-पूजा ग्रहण कर लेता है, उनकी भर्त्सना करता है, उनका असत्कार करता है, उन्हें निकलवा देता है; पर यह सब करता है—मनमें अत्यन्त सम्मान, अत्यन्त

पूज्य भाव, अत्यन्त आदर रखते हुए ही; करता है केवल उनके सुखार्थ ही। मान करता है, पर सदा मानरहित किंकर है; क्रोध करता है, पर सदा अक्रोधहीन—दीन है; अवज्ञा करता है, पर सदा पुजारी है। अत्यन्त विलक्षण भाव है। कोई मधुरभावका प्रेमी ही इसको समझता है और अनुभव कर पाता है। इसकी नकल नहीं हो सकती। ऐसा नकली आचार पाप है, गिरानेवाला है। मधुर प्रेमका ऐसा असली आचार पवित्र दिव्य प्रेमका आनन्दविलास है और वह प्रभुके सुखको नित्य बढ़ानेवाला है। प्रभु भी नित्य निष्काम, आप्तकाम, पूर्णकाम होते हुए ही इस प्रेमकी मधुररस-धाराओंका स्वाद लेनेके लिये अत्यन्त सकाम—कामवश हो जाते हैं। परंतु उनकी यह सकामता—कामवशता उनका स्वरूप ही होता है; अतएव वह लौकिक कामका नाश करनेवाली होती है। लौकिक काम अन्धकारमय नरक है; यह 'काम' नामक पवित्र प्रेम निर्मल प्रकाशमय भगवत्स्वरूप है। यह 'काम' जिस भक्तमें पैदा होता है, भगवान् उसके उस 'काम'का रसास्वादन करनेके लिये अपना सब कुछ भूलकर उस भक्तके वशमें हो जाते हैं और उसकी भगवदिच्छामयी इच्छाका अनुसरण करते हैं। भगवान् और भक्तकी यह पवित्रतम लीला ही यथार्थ 'रास' है। यह दिव्य, चिन्मय, वासना-कामना-राज्यसे सर्वथा अतीत, अत्यन्त विलक्षण, मुनिगणवाञ्छित, श्रुतिगणवाञ्छित, परमहंसगणवाञ्छित, देवदुर्लभ और भुक्ति-मुक्तिकी कल्पनासे परेकी वस्तु है।

× × × × ×

चातक और मछलीका प्रेम प्रसिद्ध है। ये प्रेमके बहुत अच्छे उदाहरण हैं। हमलोगोंको प्रभुके प्रति ऐसा ही प्रेम करना चाहिये। अवश्य ही भगवान् जल और मेघकी भाँति जड नहीं हैं और न असमर्थ ही हैं। इसीसे भगवान्पर विश्वास करके उन्हें चाहने तथा पुकारनेकी बात कही जाती है। यह सत्य है कि प्रभु सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वान्तर्यामी, सर्वगुणसम्पन्न, सर्वनियन्ता, सर्वदर्शी और सर्वाध्यक्ष हैं; परंतु वे जहाँ प्रेमियोंके प्रेमास्पद हैं, वहाँ उनके सारे ऐश्वर्य अप्रकट हो जाते हैं। वहाँ तो केवल रस-ही-रस रह जाता है, रसमय प्रभु रसका 'रास' करते हैं, परंतु वह ऐश्वर्य तथा यह रसपूर्ण माधुर्य केवल भगवान्में ही हैं। किसी मनुष्यमें किसी मनुष्यका निःस्वार्थ तथा निष्काम प्रेम हो सकता है और ऐसा प्रेम पवित्र होनेके कारण प्रभुकी या प्रभुके प्रेमकी प्राप्तिमें सहायक होता है। परंतु इससे कोई मनुष्य भगवान्के पदपर प्रतिष्ठित नहीं हो सकता और न उसे प्रतिष्ठित करना ही चाहिये।

× × × × ×

'मनमें अपार सुख-शान्ति भरी है, जीवन सुखमय है'—तुम्हारे इस वाक्यको पढ़कर बड़ी ही प्रसन्नता हुई। सारी सुख-शान्ति प्रभुके पादपद्मोंकी रज बन जानेमें है। जगत्के प्राणि-पदार्थोंमें कहीं सुख-शान्ति है ही नहीं। इनके त्यागमें—इनकी वासना-कामनाके समूल त्यागमें ही वास्तविक सुख-शान्ति है। भूल यह होती है कि कभी-कभी हमारी भोग-वासना या इन्द्रिय-सुखकामना बहुत धोखा देती है और वह भगवत्सुख-कामनारूप दिव्य प्रेमका स्वाँग बनाकर हमें ठग लेती है। उस चतुर ठगिनीसे सदा सावधान रहना चाहिये। भोग-वासनाका त्याग होनेपर ही भगवदनुरागका रंग खिलता है और सच्चे भगवदनुरागसे ही भोग-विराग होता है। निरन्तर काय-मन-वाणीसे भगवत्प्रेमके विशुद्ध भावको बढ़ाते रहना चाहिये। जब कभी भोग-वासना धोखा देना चाहे, तभी उसे सच्चे भगवत्प्रेमके द्वारा मारकर निकाल देना चाहिये। भगवान् इसमें पूरी सहायता करते हैं।

आत्मचिन्तनकी रीति

(लेखक—अनन्तश्री स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती महाराज)

१. एक ब्रह्मविद् महापुरुषका कथन है कि 'मैं देह नहीं हूँ।' इस विवेककी परिपुष्टि ही आत्मचिन्तन है; क्योंकि मनुष्य, हिंदू, ब्राह्मण, संन्यासी, स्त्री-पुरुष आदिके भेद-भावका मूल यह देह ही है। उनका कहना था कि यदि विवेक न हो तो भी ऐसा भाव करना चाहिये कि यह देहाभिमानी धरतीपर बैठा हुआ है और मैं छतपर। आत्मा चेतन है, देह जड। इनका तादात्म्य भी भ्रम है और संसर्ग भी, अर्थात् यह देह न 'मैं' हूं, न 'मेरा'। फिर इसमें आरोपित गुण-दोषसे तो अपना सम्बन्ध ही क्या है ?

२. प्रक्रिया-ग्रन्थोंमें निरूपण है—'पृथिवी जलमें लीन हो जाती है।' यह चिन्तन किया जाय कि इस विश्वमें पृथिवी नामकी कोई वस्तु नहीं है। फिर तो देह, प्राणी, वन, पर्वत, गाँव और मिट्टी कुछ नहीं होंगे। केवल जल ही होगा। आकाशके अवकाशमें वायु-वेगसे लहराता हुआ, तेजस्से प्रदीप्त केवल अपार, अगाध, अनन्त जलराशि, एक अखण्ड महार्णव। मैं और तुमके भेदके लिये कोई पार्थिव निमित्त नहीं रहेगा। यह भाव भेदभ्रान्तिको शिथिल कर देगा। आत्मा एकरस, असङ्ग, साक्षी है।

३. न पृथिवी है न जल; केवल प्रकाश है। जितनी आकृति, प्रकृति-विकृति और संस्कृतियाँ भास रही हैं, सब प्रकाशके विलास हैं। रूप-रंग, अङ्ग-अनङ्ग—सब उल्लसित प्रकाशकी दीप्तियाँ हैं। केवल हीरेकी दमक है। सोनेकी चमक है। 'मैं वही प्रकाश हूँ, असङ्ग साक्षी चेतन हूँ।'

४. यह जो शरीरमें श्वासोच्छ्वासका गमनागमन हो रहा है, यह देहकी उपाधिसे समष्टिवायुका ही रास-विलास है। वही मन्द, मध्य, तीव्रगतिसे तालपर और कभी बेताल भी पाद-विन्यास कर रहा है। क्या समष्टि-वायुसे पृथक् प्राणवायुका कोई अस्तित्व है ? उसीके संघर्षसे ऊष्मा, द्रवतासे जल, गाढ़तासे पृथिवी बनती है। वस्तुतः हमारा श्वास-प्रश्वास व्यष्टिप्राण नहीं, समष्टिप्राण है। इसीकी लास्यमयी यह लीला है—सृष्टि। न मिट्टी है न पानी, जो कुछ है, हमारे प्राणोंकी परिणाम-प्रक्रिया है। न प्रकाश है न ऊष्मा, सब प्राणकी गुदगुदी है। प्राणकी अशेषतामें भौतिक विशेषताका निषेध है। प्राण कभी शान्त है, कभी विक्षिप्त। आत्मा है उसका असङ्ग आधार—एकरस चेतन।

५. श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजने उपदेश किया कि ऐसा चिन्तन करो—'मैं देह नहीं, आकाश हूँ।' इसका अर्थ यह हुआ कि 'मैं परिच्छिन्न व्यष्टि नहीं, चिदाकाश हूँ।'

अब इसपर थोड़ा चिन्तन किया जाय। आकाश वायु आदिका क्रम-परिणामी उपादान है। क्रम कालका बोधक है और परिणाम नियन्त्रणका। वह वायु आदिका दिक्तादात्म्यापन्न आधार भी है। इसका अभिप्राय यह है कि देश, काल और कारण-द्रव्य एकाकार होकर आकाशके रूपमें भास रहे हैं। वे अपने समग्र कार्यमें अनुगत भी हैं और विविक्तरूपसे उनसे व्यावृत्त भी। इस आकाशको यदि परिपूर्ण चेतन एक रूपमें देखा जाय तो इसीका नाम 'महेश्वर' है। पूर्ण-अहंतावादी शैव आदि इसीको अपने 'अहं'के रूपमें अनुभव करते हैं और अपने अनुभवका अनुवाद करते हैं कि 'मैं ही सर्वकारण, सर्वोपादान, सर्वनियन्ता, सर्वाधार एवं सर्वस्वरूप परमेश्वर हूँ।' निश्चय ही इस भावनासे देहका तादात्म्य भङ्ग हो

जाता है । कई लोग इसको 'पूर्णताप्रत्यभिज्ञा' कहते हैं—अर्थात् अपनी भूली-बिसरी पूर्णता पुनः ज्ञानगोचर हो गयी । अपने पारमैश्वर्यका यह स्फुरण विशेषकर अनुवृत्ति-भावनापर अवलम्बित है । वस्तुतः मैं चेतन आत्मा ही कारणशरीर होकर 'ईश्वर' समष्टि सूक्ष्मशरीर होकर 'हिरण्यगर्भ' और स्थूल विश्वशरीर होकर 'विराट्' नामधारी हो रहा हूँ । सर्वनामरूप-विभाग, विमर्श, इच्छा, शक्ति, क्रिया और द्रव्य मेरे ही स्फुरण हैं । साधनाकी दृष्टिसे यह चिन्तन बहुत उत्तम अवस्था है ।

परमार्थकी दृष्टिसे चिन्तन किया जाय तो यह आकाशका चिन्तन परिच्छिन्नताके निवारणका साधन होनेपर भी सिद्ध वस्तुका सम्पूर्ण बोध नहीं है; क्योंकि स्वयंप्रकाश आत्मवस्तु किसी भी दृश्य वस्तुसे विलक्षण है । जो वस्तु चेतनसे चेतनमें प्रकाशित हो रही है, उसके अत्यन्ताभावका अधिष्ठान भी चेतन ही है । इसलिये वह वस्तु अपने अत्यन्ताभावके अधिकरणमें प्रकाशित होनेके कारण मिथ्या तो है ही, अत्यन्ताभाव-स्वरूप भी है । वेदान्त-मतमें अत्यन्ताभाव अधिष्ठानसे भिन्न स्वीकृत नहीं है; अतएव आत्मस्वरूपसे अतिरिक्त न अत्यन्ताभाव है और न तो उसका प्रतियोगी । इसका अभिप्राय यह है कि अखण्ड चेतन आत्मा ही ब्रह्म है और उसके अतिरिक्त अन्य कोई भी वस्तु नहीं है ।

ऐसी स्थितिमें 'मैं अखण्ड चिदाकाश हूँ' इस चिन्तनका अभिप्राय केवल इतना ही रहता है कि परिच्छिन्न दृश्यादृश्यके अज्ञाननिमित्तक तादात्म्य-भ्रमकी निवृत्ति हो जाय । आत्मा स्वयंप्रकाश, द्वितीय ब्रह्म ही है—इस अनुभवमें ही सब चिन्तनोंका पर्यवसान है ।

एक निराकार सत्ता ही सम्पूर्ण नाम-रूपात्मक प्रपञ्चका उपादान है । वह जबतक कार्य-दृष्टिसे कल्पित है, तबतक उसमें परिणामकी कल्पना करनेमें आपत्ति नहीं है; परंतु जब निर्विशेष सत् और निर्विशेष चेतनकी एकता एवं अद्वयताका बोध हो जाता है, तब कार्य-कारणभाव बाधित हो जाता और सत्में कल्पित उपादानता भी निवृत्त हो जाती है । यही दशा क्रम, विस्तार और आधारताकी भी है । ये तभीतक हैं, जबतक कार्य-कारणभाव है । उसके बाधित होनेपर कालगत नित्यता और देशगत पूर्णताका कोई प्रश्न ही नहीं रहता । श्रुतिने स्वयं ही व्याप्य-व्यापक-भावको मिथ्या बताया है । ऐसी स्थितिमें 'मैं व्यापक हूँ, आधार हूँ, कारण हूँ, अविनाशी हूँ, सत्य हूँ, चेतन हूँ, प्रकाशक हूँ, प्रिय हूँ, अद्वय हूँ'—इत्यादि चिन्तनकी धारा भी अनपेक्षित हो जाती है । सार-सार यह कि नाम-रूप-क्रियात्मक प्रपञ्च भी भासमान है । पहला बाधित है और दूसरा अबाधित । यह अबाधित आत्मसत्ता ही 'परमार्थ' है ।

आत्माको चिदाकाशके रूपमें चिन्तन करनेका यह सुनिश्चित ज्ञान अवश्यम्भावी फल है ।

६. जैसे कोई जादूगर स्वयं अदृश्य रहकर ऐसा खेल दिखाये कि एक प्राणिशरीर एक पतले-से धागेके सहारे निराधार आकाशमें लटक रहा है । वह शरीर चाहे व्यष्टि हो चाहे समष्टि, पिण्ड हो या ब्रह्माण्ड, अनन्तकी दृष्टिसे उसकी अल्पता-अनल्पता, लघुता-विशालता, एकता-अनेकता अथवा नित्यता-अनित्यताका कोई मूल्य नहीं है । अपने-अपने विशेष धागेमें अटके और लटके हुए विशेष-सामान्य स्वभाव, गुण-दोष, आकृति-विकृति एवं संस्कृति प्रकट कर रहे हैं । यह कठपुतलीके खेलके समान एक खेल प्रकट हो रहा है । सूर्य, चन्द्रमा, पृथिवी, ब्रह्माण्ड लट्टूके समान लटक रहे हैं । यह धागा क्या है ? यह सूत्र एक-एक इकाईका अलग-अलग भी प्रतीत होता है और कभी-कभी समवाय-सा भी प्रतीत होता है । यह विद्युत्-वाही सूत्र प्रत्येक यन्त्रमें निहित विशेषताके

अनुसार उसका संचालन करता है। परंतु इन पृथक्-पृथक् सूत्रोंमें—सूक्ष्म शरीरोंमें जो विद्युत्-धारा प्रवाहित है, वह क्या है? सूत्र सूक्ष्म-शरीर है तो तदवस्थ चिदाभास अहं ही विद्युत्-धारा है। जब इस पृथक्-पृथक् विद्युत्-धाराके सामान्य अनुस्यूत चिदाभासका चिन्तन करते हैं तो जो व्यष्टिदृष्टिसे तैजस अथवा सूत्रात्मा है, वही समष्टिदृष्टिसे हिरण्यगर्भ है। वासनाके रंगमें रँगी हुई वासनोपरक्त यह समष्टि ही हिरण्यगर्भका रक्त शरीर है। इस रक्ततामें सारे विभाजन, वे चाहे दैशिक, कालिक अथवा जडीय क्यों न हों, डूबते-उतराते रहते हैं। वस्तुतः उसमें स्थूल-सूक्ष्मका विभाग नहीं है, सब केवल मनोमयभावमात्र है और एक विशाल निरवकाश रक्तिमाके समुद्रमें अन्तस्तरंगोंका उन्मेष-निमेष अथवा उन्मज्जन-निमज्जन है। इस विशेष संविद्रूप अगाध विद्युत्-राशिमें निहित एवं शान्त जो कारण-वारि है, वही समग्र उन्मेष-निमेषोंका केन्द्र है। वह एक प्रकारकी अगाध, अपार, निरवकाश श्वेतिमाका निस्तरंग समुद्र है और वहाँ संविद्रूप विद्युत् भी निश्चल ही है। वह सम्पूर्ण शक्तियोंका केन्द्र होनेपर भी शान्तिका केन्द्र है। उसमें न किसी प्रकारका संकोच है न विस्तार, न विकार है न विकास। उसमें न प्रवृत्ति है न निवृत्ति, न स्थूल है न सूक्ष्म, परंतु वही सबका मूल है। वह चिदाभास तो है, परंतु आभास्य नहीं है। वहाँ आभास और आभास्य एक हैं। यही कारण है कि सगुण-एकत्ववादी जब उसका निरूपण करने लगते हैं, तब अनेक विचारशील जिज्ञासुओंको भ्रम हो जाता है कि वही ब्रह्म है। यह श्वेत चिदाभास-प्रकाश भी एक बृहत् नीलिमामें निस्सम्बन्ध ही सूर्यपिण्डवत् भासमान है। यह नीलिमा कोई वस्तु नहीं है—न लंबाई न चौड़ाई, न जायमान न म्रियमाण, न नाप न तौल। यह नीलिमा एक माया है—छाया है। यह अपने साक्षी-स्वरूपमें बिना अर्थ हुए और बिना संसर्गके ही भास रही है। जब अन्यरूप अर्थ ही नहीं है, तब संसर्गका प्रश्न कहाँ रहा? फिर यह माया-छाया क्या है? यह नीलिमा क्या है? चिन्मात्र आत्मवस्तुमें जो स्वयंप्रकाश है और प्रकाश्य-प्रकाशक भावसे विनिर्मुक्त है—उसमें यह माया-छाया एक असम्भव कल्पना है। अनन्त ज्ञान आत्मा है और उसका ग्राह्य-ग्रहण-भावसे रहित होना नीलिमा है। यह रक्तिमा, श्वेतिमा अथवा नीलिमा उस व्यावहारिक बुद्धि-वृत्तिकी उड़ान है, जो मूल तत्त्वको ढूँढ़ना चाहती है। परमार्थतः जो इनका साक्षी है अर्थात् 'मैं' अथवा 'आत्मा' शब्दका वास्तविक अर्थ है, उसमें इस माया-छायारूप नीलिमाका कोई अस्तित्व नहीं है। देश-काल-वस्तुके सारे विभाग किसी भी रूपमें इस अनन्त संवित्का स्पर्श नहीं कर सकते। यही संवित् अद्वय है, अनन्त है, अखण्ड है, ब्रह्म है; इसीमें सम्पूर्ण वेदान्तों और अनुभवोंका पर्यवसान है। उस नीलिमासे लेकर स्थूल सृष्टिपर्यन्त सब अपनी चमक है, दमक है। न है न नहीं है। बस, अपना-आपा ही है।

७. औपनिषद-तत्त्वके जिज्ञासुके लिये योग-सांख्योक्त त्रिगुणमयी प्रकृतिको स्वीकृति देनेकी कोई आवश्यकता नहीं। सांख्य-योगके मतमें ही गुणोंका परमरूप दृश्य नहीं है। वे गुणोंको कार्यानुमेय मानते हैं और तदनुकूल श्रुतिकी व्याख्या कर लेते हैं। वस्तुतः नित्य परोक्ष होनेके कारण व्याप्तिग्रह न होनेसे गुण अनुमानसिद्ध नहीं हैं, केवल वाक्यगम्य ही हैं। ऐसी स्थितिमें 'प्रकृति' शब्दका अर्थ ईश्वरकी उपाधि 'माया' अथवा जीवकी उपाधि 'अविद्या' ही हो सकता है। नाम-रूप-विनिर्मुक्त तत्त्वमें माया-अविद्या पर्यायवाची शब्द हैं। अपने अनवच्छिन्न-रूप अधिकरणमें दोनोंका अत्यन्ताभाव है। इसलिये दोनों ही मिथ्या अथवा अनिर्वचनीय हैं। अतएव

अधिष्ठान-ज्ञानसे उनकी बाधरूप निवृत्ति हो जाती है ।

यही कारण है कि वेदान्तकी चिन्तन-धारामें माया, अव्याकृत, अव्यक्त, प्रकृति, प्रधान, अविद्या, अज्ञान, मोह और कारण-शरीर आदि शब्द पर्यायवाची ही हैं । इसलिये सत्त्व-रज-तमके चिन्तनकी कोई आवश्यकता नहीं है, केवल सच्चिदानन्दके चिन्तनसे ही आत्मज्ञानके मार्गमें हम आगे बढ़ सकते हैं । अपने देहकी ओर देखिये । नाभिसे नीचे स्थूल प्रणवका विभाग है । जननेन्द्रियसहित दोनों चरण 'अकार'रूप हैं । उनको नाभिके साथ जोड़नेवाली शिरा 'उकार'रूप है और स्वयं नाभि 'बिन्दु'रूप है । यह स्थूल ओंकार है । यह चेत्य अर्थात् जडप्रधान है । क्रियाका आश्रय 'सत्' है, वृत्तिका आश्रय 'चित्' है और सुखभोगका आश्रय'आनन्द'— तीनोंमें अनुस्यूत आत्मा एक है । वही ओंकारका लक्ष्यार्थ है । वह चेतन है । अब थोड़ा ऊपर दृष्टि उठाइये । दोनों बाहु और उनका मध्य भाग 'अकार' है । कण्ठपर्यन्त 'उकार' है और विशुद्ध चक्र 'बिन्दु' है । तीनोंमें अनुस्यूत ओंकारार्थ 'चेतन आत्मा' है । यह भावप्रधान सूक्ष्म ओंकार है । स्थूल ओंकारमें जो चेतन आत्मा है, वही सूक्ष्म ओंकारमें भी है । चेतन-चेतन एक है । थोड़ा और ऊपर उठिये । दोनों भौंहें और उनके मध्यभागसे सम्बद्ध नासिकाग्र 'अकार' है, दोनों नेत्रोंके रश्मिमूलपर्यन्त 'उकार' है, ब्रह्मरन्ध्र 'बिन्दु' है । यह 'कारण-प्रणव' है । यह ज्ञानप्रधान है । इसमें अनुस्यूत चेतन आत्मा है । वही ओंकारका लक्ष्यार्थ है । स्थूल-सूक्ष्म-कारण प्रणवाकृतिके भेद होनेपर भी प्रभव लक्ष्यार्थ आत्मा एक ही है । देश-काल-वस्तु आदि समग्र भेद इन त्रिविध शरीरोंमें ही, शरीरोंसे ही, शरीरमूलक ही भासते हैं । शुद्ध चेतनमें देश-काल-द्रव्यका अत्यन्ताभाव है । अतः अपने अत्यन्ताभावके अधिष्ठानमें भासमान होनेके कारण ये मिथ्या एवं बाधित हैं । आत्म-चैतन्य अबाधित भासमान है और तदतिरिक्त बाधित भासमान । इस बाधित भासमानकी उपेक्षा ही 'आत्मदृष्टि' है । इसे ही 'आत्मचिन्तन' कहते हैं ।

आनन्दकी अनुभूति

(लेखक—श्रीश्याममनोहरजी व्यास, एम्० एस्-सी०)

प्राचीन समयमें चीनमें कन्फ्यूशस नामके एक बड़े दार्शनिक हुए हैं । चीनका सम्राट् भी उनका बड़ा आदर करता था ।

एक दिन सम्राट्ने कन्फ्यूशससे कहा—'कन्फ्यूशस ! मुझे उस आदमीके पास ले चलो, जो देवताओंसे भी महान् हो ।'

कन्फ्यूशसने उत्तर दिया—'एक तो स्वयं आप ही हैं; क्योंकि जो सत्यको जाननेकी इच्छा रखता है, वह महान् है ।'

सम्राट् बोले—'यदि ऐसी बात है तो मुझसे भी महान् व्यक्ति मुझे बताओ ।'

उत्तर मिला—'आपसे महान् मैं हूँ; क्योंकि मैं सत्यसे प्रेम करता हूँ ।'

सम्राट्ने फिर कहा—'महर्षि ! मुझे तो आपसे भी महान् व्यक्ति चाहिये ।'

कन्फ्यूशसने उत्तर दिया—'तो आप मेरे साथ चलिये, मैं आपको उस व्यक्तिके पास ले चलता हूँ, जो देवताओंसे भी महान् है ।' दोनों चल पड़े । एक स्थानपर उन्होंने एक वृद्ध पुरुषको कुआँ खोदते हुए देखा ।

दार्शनिक कन्फ्यूशसने कहा—'सम्राट् ! देखिये, यह व्यक्ति काफी वृद्ध हो चुका है, शरीरसे भी काफी निर्बल है, पर फिर भी यह कुआँ खोद रहा है क्यों ? परोपकारके लिये ! इसके आनन्दकी अनुभूति परोपकारमें निहित है । जिसका तन-मन ऐसी आनन्दानुभूतिमें काम करता है, वह जीते-जी जीवन-मृत्युकी सारी सीमाएँ लाँघ जाता है । उससे महान् और कौन हो सकता है ? परोपकारमें रत व्यक्ति देवताओंसे भी महान् है ।'

गीताका भक्तियोग ६

(पूज्य स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजद्वारा की गयी गीताके बारहवें अध्यायकी आनुपूर्वी विस्तृत व्याख्या)

[गताङ्क पृष्ठ १०८९ से आगे]

सम्बन्ध

अर्जुन ! यदि मुझमें ही मन-बुद्धि लगाना रूप साधन तेरी प्रकृतिके उपयुक्त नहीं है, तो तुझे अब आगे तीन श्लोकोंमें अपनी प्राप्तिके भिन्न-भिन्न तीन स्वतन्त्र साधन बतलाता हूँ—

श्लोक

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥ ९ ॥

भावार्थ

अर्जुन ! यदि तू मन-बुद्धिको मुझमें एकाग्रतासे स्थिर कर लेनेमें अपनेको असमर्थ मानता है, तो भी तुझे ऐसी चिन्ता नहीं होनी चाहिये कि मन-बुद्धि स्थिर हुए बिना भगवत्प्राप्ति कैसे होगी ? मन-बुद्धिका अखण्डरूपसे मुझमें लगना ही मेरी प्राप्तिका एकमात्र साधन हो, ऐसी बात नहीं है। किंतु मेरी प्राप्तिका उद्देश्य होनेपर नाम-जप, कीर्तन, लीला-चिन्तन, कथा-श्रवण, सत्-शास्त्र-अध्ययन आदि अभ्यासकी प्रत्येक क्रिया मेरी प्राप्ति अवश्य करा देगी। इसलिये मेरी प्राप्तिका उद्देश्य रखकर बार-बार मुझमें मन-बुद्धि लगानेकी चेष्टा कर ।

अन्वय

अथ, चित्तम्, मयि, स्थिरम्, समाधातुम्, न, शक्नोषि, ततः, धनंजय, माम्, अभ्यासयोगेन, आप्तुम्, इच्छ ॥९॥

अथ—(यदि) तू

चित्तम्—(मनको)

यहाँ इस पदका अर्थ केवल 'मन' होते हुए भी इस श्लोकका अर्थ पूर्वश्लोकमें कथित साधनसे सम्बन्ध होनेके कारण 'मन-बुद्धि' दोनों लेना ही युक्ति-संगत है ।

मयि—(मुझमें)

स्थिरम्—(अचल भावसे)

समाधातुम्—(स्थापित करनेके लिये)

न शक्नोषि—(समर्थ नहीं है)

ततः—(तो)

धनंजय—(हे अर्जुन)

अभ्यासयोगेन—(अभ्यासरूप योगके द्वारा)

'अभ्यास' और 'अभ्यासयोग' दो होते हैं । किसी भी क्रियाको बार-बार करनेका नाम 'अभ्यास' है । अभ्यासके साथ योगका संयोग होनेसे उसको 'अभ्यास-योग' कहा जाता है। 'योग'की परिभाषा गीतामें दो प्रकारसे हुई है—(१) छठे अध्यायके २३वें श्लोकमें 'तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्'—(दुःखरूप संसारसे सम्बन्ध-विच्छेदका नाम 'योग' है) और (२) दूसरे अध्यायके ४८वें श्लोकमें 'समत्वं योग उच्यते'—समताका नाम 'योग' है; और समता परमात्माका स्वरूप ही है—'निर्दोषं हि समं ब्रह्म' (गीता ५ । १९) इसलिये योगका अर्थ हुआ 'भगवत्प्राप्ति' । किसी भी क्रियाका उद्देश्य संसारसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद अथवा भगवत्प्राप्ति होनेसे उस क्रियाका नाम 'अभ्यास-योग' होगा ।

अभ्यासके साथ योगका संयोग न होनेसे ध्येय संसार होगा । संसारका ध्येय होनेपर धन, मान, पुत्र, स्त्री, नीरोगता, अनुकूलता, बड़ाई, कीर्ति आदिकी इच्छा होगी ।

जिन पुरुषोंका ध्येय संसार है अर्थात् स्त्री, पुत्र, धन, मान, बड़ाई, कीर्ति आदि हैं—उनकी क्रियाओंके उद्देश्य भिन्न-भिन्न रहेंगे—कभी धन, कभी मान-बड़ाई आदि, कभी नीरोगता, कभी पुत्र-प्राप्ति आदि । दूसरे अध्यायके ४४वें श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि ऐसे पुरुषोंकी

बुद्धियाँ अनन्त और बहुत भेदोंवाली होंगी। इसलिये ऐसे पुरुषोंकी क्रियामें 'अभ्यासयोग' नहीं होगा। जब क्रियामात्रका उद्देश्य, ध्येय केवल परमात्मा ही होगा, तभी 'अभ्यासयोग' होगा।

साधक भगवत्प्राप्तिका उद्देश्य रखकर बार-बार नाम-जपादिकी चेष्टा करता है, तब उसके मनमें अन्य संकल्प भी होते रहते हैं। अतः साधकको—'मेरा ध्येय भगवत्प्राप्ति ही है', इस प्रकारकी दृढ़ धारणा करके अन्य संकल्पोंको त्याग देना चाहिये।

छठे अध्यायके २६ वें श्लोकमें भगवान्‌ने अभ्यासपूर्वक मनको भगवान्‌में लगानेकी बात कही है। गीताजीमें अभ्यासके साधनकी रीति इसी श्लोकमें बतायी गयी है।

छठे अध्यायके ३५वें श्लोकके अन्तर्भूत 'अभ्यासेन' पद तथा इसी अध्यायके १२वें श्लोकके अन्तर्गत 'अभ्यासात्' पद साधारण अभ्यासका वाचक है।

आठवें अध्यायके ८वें श्लोकमें प्रयुक्त 'अभ्यास-योगयुक्तेन' पद अभ्यासके द्वारा वशमें किये हुए चित्तका विशेषण है।

और इसी अध्यायके १०वें श्लोकमें 'अभ्यासे' पद पूर्व प्रसङ्गसे सम्बन्धित होनेके कारण अभ्यासयोगका वाचक है

माम् आप्तुम् इच्छ—(मुझको प्राप्त करनेकी इच्छा कर)

इन पदोंसे भगवान् अभ्यासयोगको अपनी प्राप्तिका स्वतन्त्र साधन बतलाते हैं।

पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने अपनेमें ही मन-बुद्धि लगानेको कहा, यहाँ अभ्यासयोगके लिये कहते हैं। इससे यह धारणा हो सकती है कि अभ्यास-योग मन-बुद्धि अर्थात् ध्यान लगानेका साधन है। अभ्यासके द्वारा लगानेपर ही मेरी प्राप्ति होगी। ध्यानसे ही भगवत्प्राप्ति हो, ऐसा नियम नहीं है। भगवान् कहते हैं कि यदि अभ्यास करनेमें उद्देश्य पूरा-का-पूरा भगवत्प्राप्ति ही हो, अर्थात् उद्देश्यके साथ एकता हो तो उस अभ्यास-योगसे भगवत्प्राप्ति ही होगी

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

भावार्थ

यदि तू अभ्यासयोगमें भी असमर्थ है अर्थात् बार-बार प्रयत्न करनेपर भी मुझमें मनको लगानेमें भी असमर्थ है तो जो कुछ भी कर्म करे, वे सब-के-सब काम मेरे लिये ही कर अर्थात् मेरे लिये कर्म करनेके ही परायण हो जा। मेरे लिये कर्म करनेके परायण होना भी मेरी प्राप्तिका एक स्वतन्त्र साधन है।

देश, काल, परिस्थिति आदिको लेकर जो कर्म तेरे सम्मुख उपस्थित हो, उस कर्मको मेरे लिये ही कर। इस प्रकार मेरे लिये कर्म करनेसे तुझे मेरी ही प्राप्ति होगी।

यदि साधकका उद्देश्य भगवत्प्राप्ति ही है और सम्पूर्ण क्रियाएँ वह भगवान्‌के लिये ही कर रहा है तो इसका अभिप्राय यह हुआ कि उसने अपनी सारी सामर्थ्य—योग्यता भगवत्प्राप्तिके लिये ही लगा दी। इसके सिवा वह और कर भी क्या सकता है? भगवान् उस साधकसे इससे अधिक अपेक्षा भी नहीं रखते और उसे अपनी प्राप्ति करा देते हैं। कारण इसका यह है कि परमात्मा किसी साधन-विशेषसे खरीदे नहीं जा सकते। परमात्माके महत्त्वके सामने सम्पूर्ण संसारका महत्त्व भी कुछ नहीं है, फिर एक व्यक्ति तो उसका मूल्य चुका ही कैसे सकता है? अतः अपनी प्राप्तिके लिये भगवान् साधकसे इतनी ही अपेक्षा रखते हैं कि वह अपनी पूरी सामर्थ्य—योग्यताको लगा दे, अर्थात् कुछ भी बचाकर अपने पास न रखे।

अन्वय

अभ्यासे, अपि, असमर्थः, असि, मत्कर्मपरमः, भव, मदर्थम्, कर्माणि, कुर्वन्, अपि, सिद्धिम्, अवाप्स्यसि ॥१०॥

अभ्यासे—(ऊपर कहे हुए अभ्यासमें)

इस पदका अभिप्राय यहाँ अभ्यासयोगसे है। गीताजीकी शैली है कि पहले कहे हुए विषयका आगे संक्षेपमें वर्णन करते हैं। आठवें श्लोकमें भगवान्ने परमात्मामें मन-बुद्धि लगाना रूप साधनको नवें श्लोकमें 'चित्तम्' पदसे कहा, अर्थात् 'चित्तम्' पदके अन्तर्गत मन-बुद्धि दोनोंका समावेश कर दिया। ऐसे ही नवें श्लोकमें आये हुए अभ्यासयोगके लिये यहाँ यह 'अभ्यासे' पद आया है।

अपि—(भी)

असमर्थः—(असमर्थ)

असि—(है)

(तर्हि)—तो

मत्कर्मपरमः भव—(केवल मेरे लिये कर्म करनेके परायण हो जा)

इसका तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण कर्मोंका उद्देश्य संसार न रहकर एकमात्र भगवत्प्राप्ति ही हो। जो कर्म भगवत्प्राप्तिके लिये—भगवान्की प्रसन्नताके लिये और भगवान्में प्रेम होनेके लिये भगवदाज्ञानुसार किये जाते हैं, उनकी संज्ञा 'मत्कर्म' है। जो साधक ऐसे कर्मोंके परायण हैं, वे 'मत्कर्मपरमः' कहे जाते हैं। साधकका अपना सम्बन्ध भी भगवान्से हो और कर्मोंका सम्बन्ध भी भगवान्के साथ रहे, तब मत्कर्मपरमता सिद्ध होगी।

भगवत्प्राप्तिमें दो तरहके साधन होते हैं—(१) निषेधात्मक—जैसे चोरी, व्यभिचार, झूठ, कपट, हिंसा आदि न करना और (२) विधेयात्मक—जैसे माता-पिता-गुरुजन आदिकी सेवा करना, संत-महात्माओंकी सेवा करना, भगवान्की सेवा-पूजा करना, सत्य-भाषण आदि। इन दोनों साधनोंमें विधि-क्रियाको करनेकी अपेक्षा निषिद्ध-क्रियाका त्याग भगवत्प्राप्तिमें विशेष सहायक है। संसार ध्येय न रहनेसे निषिद्ध क्रियाएँ सर्वथा छूट जायँगी; क्योंकि निषिद्ध क्रियाएँ करानेमें संसारकी कामना ही हेतु है (गीता ३। ३७)। अतः भगवत्प्राप्तिका ही उद्देश्य रहनेसे साधककी सम्पूर्ण क्रियाएँ भगवदर्थ ही होंगी।

ग्यारहवें अध्यायके ५५वें श्लोकमें 'मत्कर्मकृत्' पद इसी भावका द्योतक है। तीसरे अध्यायके ९वें श्लोकमें 'तदर्थं कर्म समाचर' पद इसी भावमें प्रयुक्त हुआ है।

मदर्थम् कर्माणि कुर्वन् अपि—(मेरे लिये कर्मोंको करता हुआ भी)

भगवान्ने जिस साधनकी बात इसी श्लोकके पूर्वार्धमें 'मत्कर्मपरमः भव'से कही है, वही बात इन पदोंमें कही गयी है।

सिद्धिम् अवाप्स्यसि—(मेरी प्राप्ति होगी)

आठवें श्लोकमें 'ध्यानके साधनसे तू मुझमें ही निवास करेगा'—इस प्रकार अपनी प्राप्तिका स्वतन्त्र साधन बतलाया तथा नवें श्लोकमें 'अभ्यासयोगसे मुझे प्राप्त होनेकी इच्छा कर'—इस प्रकार अभ्यासयोगको अपनी प्राप्तिका स्वतन्त्र साधन बतलाया; इसी प्रकार यहाँपर इन पदोंसे भगवान् 'मत्कर्मपरमः भव' (केवल मेरे लिये कर्म करनेके परायण हो), इस साधनको अपनी प्राप्तिका स्वतन्त्र साधन बतला रहे हैं।

(क्रमशः)

आस्तिकताकी आधार-शिलाएँ

प्रभु हमें लेकर खेल रहे हैं।

वस्तुतः हमलोग अबतक अपने आपको ही भूले हुए हैं। हमलोग शरीर हैं क्या ? विचार करनेपर पता लगेगा—नहीं, शरीर तो नहीं हैं। शरीर तो अबतक अनन्त प्राप्त कर चुके हैं। अमुक-अमुक नामसे परिचित ये शरीर भी यहीं रह जायँगे, हमलोग इन्हें छोड़ देंगे, निश्चय छोड़ देंगे। तब हमलोग कौन हैं ? गीतामें देखें—भगवान् कहते हैं—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
(१५।७)

हमलोग उन्हींके अंश हैं, बिल्कुल उसी धातुके हैं, जिस धातुके भगवान् हैं; पर हमलोग उनको भूल गये। इसीलिये अपनेको भी भूल गये और सोचने लगे—'ये शरीर-ही-हमलोग हैं।' अब यदि उन्हें याद करें, उन्हें बीचमें ला रखें तो पहले अपनी-अपनी स्मृति होगी, फिर यह स्मृति जाग उठते ही हमलोगोंका सम्बन्ध इतना निकटतम हो जायगा कि उस निकटताका वर्णन भी नहीं हो सकता। सच मानिये—हमलोग जितनी देरतक प्रभुको बीचमें रखते हैं, उतनी देरके लिये वे बिल्कुल निकटसे भी निकट हैं। उनको भूलनेपर वे इतनी दूर चले जाते हैं कि उसकी कल्पना भी नहीं हो सकती, वर्णन होना तो बहुत दूरकी बात है। प्रभुको बीचमें रखकर हम दो प्रकारके अनुभव करेंगे—(१) जो सम्बन्ध उनका एकसे है, वही सम्बन्ध उनका दूसरेसे भी है तथा (२) दोनों समान हैं, दोनों उनके हैं। दो हैं ही नहीं, एकके ही दो बना लिये गये हैं, तीन बना लिये गये हैं, हजार बना लिये गये हैं, असंख्य बना लिये गये हैं। खेलनेके लिये बनाये गये हैं। किसने बनाये हैं ? हमारे स्वामीने। तो यह खेल है ? हाँ, खेल है, हमारे स्वामीका खेल है, हमें लेकर वे खेल रहे हैं। खूब खेलो, नाथ ! बलिहारी तुम्हारे खेलकी !!

उनके लिये उनको भजिये।

एक मुसल्मान-परिवारमें एक भक्तिमती नारी हुई है, जिसका नाम था 'रबिया'। रबियाने कहा है—'मेरे प्राणनाथ ! यदि स्वर्गकी कामनासे मैं तुम्हें भजती हूँ तो मेरे लिये स्वर्गका द्वार बंद कर दो। और यदि नरकके डरसे तुम्हें भजती हूँ तो मुझे नरककी ज्वालामें भस्म कर दो; पर यदि मैं तुम्हारे लिये तुम्हें भजती हूँ तो मुझे मिल जाओ।' कैसा सुन्दर भाव है ! सचमुच जिस दिन उनके लिये मनुष्य उनको भजने लगता है, फिर उस भजनमें एक अपूर्व स्वाद होता है—विलक्षण मिठास होती है—भजन प्राणोंसे बढ़कर प्यारा लगता है। पर ऐसा सहसा किसी-किसी महात्माके जीवनमें ही होता है। क्रमशः विकास ही साधारणतया देखा जाता है। अतएव सर्वथा अनुद्विग्न चित्तसे उनके लिये उन्हें भजनेका अभ्यास बढ़ाते रहें। अर्थात् सर्वथा सभी प्रकारकी कामनाओंसे रहित होकर उनके चरणोंमें न्योछावर होनेका ही उद्देश्य रखकर उन्हें भजिये। लौकिक परिस्थितियाँ अनुकूल-प्रतिकूल जैसी भी आयें, उन्हें उनका विधान समझकर अतिशय प्रेमपूर्वक स्वीकार कीजिये। यह करना पड़ेगा। उनकी कृपाका आश्रय लेकर अपने जीवनमें साधनाको उतारना पड़ेगा। उतारेंगे वे ही, उनकी दया ही सब करेगी; पर उसके लिये अपना हृदय खोलकर उनके सामने करना हमलोगोंका काम है। वे आपके हैं और आप उनके हैं, वे आपके हृदयधन हैं और आप उनके हृदयधन हैं—इस मधुरतम सम्बन्धको हृदयमें बार-बार जाग्रत् कीजिये और मलिन-से-मलिन हृदयको ही उनके सामने कीजिये। वे अपने लायक

उसे बना लेंगे, अवश्य बना लेंगे। उनकी कृपाका पार नहीं है।

जीभसे निरन्तर भगवान्‌का नाम लीजिये—

भगवान्‌ने कहा है—'सभी धर्मोंका आश्रय छोड़कर केवल एकमात्र मेरी शरणमें चले आओ। फिर मैं तुम्हें सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तुम चिन्ता मत करो।'

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(गीता १८। ६६)

मनकी कैसी भी अवस्था क्यों न हो, कोई परवा नहीं। केवल जीभसे निरन्तर भगवान्‌का नाम लीजिये, फिर सारी जिम्मेवारी भगवान् सँभाल लेंगे। केवल जीभसे नाम-स्मरण—और कोई शर्त नहीं।

चाहे मन लगे या न लगे, यदि भगवान्‌का नाम जीभसे निरन्तर लेने लग जाइयेगा तो फिर न तो कोई शङ्का उठेगी, न कोई चाह रहेगी। थोड़े ही दिनोंमें शान्तिका अनुभव करने लगियेगा। इससे सरल उपाय कोई नहीं है। पूर्वके पापोंके कारण नाम लेनेकी इच्छा नहीं होती। यदि एक बार हठसे ही निरन्तर नाम लेनेका नियम लेकर ४-६ महीने बैठ जायँगे, तो फिर किसीसे कुछ भी पूछनेकी जरूरत नहीं रहेगी। स्वयं सत्य वस्तुका प्रकाश मिलने लगेगा, संदेह मिटने लगेंगे। इस प्रकार जिस दिन भजन करते-करते सर्वथा शुद्ध होकर भगवान्‌को चाहियेगा, उसी क्षण भगवान्‌से मिलकर कृतार्थ हो जाइयेगा।

× × × ×

पहले ऐसा कीजिये कि कम-से-कम बोलकर जरूरी-जरूरी काम सल्टा लीजिये, बाकीका समय पूरा-का-पूरा जीभसे नाम लेते हुए बिताइये। यह सूत्र आसानीसे हो सकता है। करना नहीं चाहियेगा तो उसकी कोई दवा होनी बड़ी कठिन है। यदि मनुष्य भजन करना चाहे तो जरूर कर सकता है। यदि कोई कहता है—'हमसे भजन नहीं होता', तो समझ लीजिये कि सचमुच वह भजन करना चाहता नहीं। आपके चाहनेपर भजन अवश्य हो सकता है। बिना परिश्रम ही सब हो जायगा। यह कलियुग है, मन लगना बड़ा कठिन है। बिरले ऐसे होते हैं, जिनका मन सचमुच भगवान्‌में लग गया हो। पर यदि कोई जीभसे निरन्तर नाम लेने लगे तो फिर बिना मन लगे ही अन्ततक अवश्य कल्याण हो जायगा।

प्रति तीन घंटेपर इन बातोंपर विचार करें—

मनके अनेक रूप हैं—जैसे काम, संकल्प, संशय आदि। इनके स्वरूपको समझकर इनके विषयमें किस प्रकार सावधानी बरतनी चाहिये, इसके लिये इस विवेचनपर ध्यान देना आवश्यक है—

(१) काम—किसी चीजकी इच्छा करनेका नाम है—'काम'। आप किसी चीजकी इच्छा मत कीजिये। आप अपने मनसे ऐसा मत सोचिये कि 'अमुक चीज इस रूपमें हो।'

(२) संकल्प—किसी अच्छे कामके लिये संकल्प करें, जो भगवान्‌की ओर ले जानेवाला हो। दूसरा कोई संकल्प मत कीजिये।

(३) संशय—दुनियाके बारेमें संशय कर सकते हैं, पर भगवान्‌की सत्ताके या परलोक या पुण्य-पापके विषयमें संदेह मनमें हो तो उसे निकाल दें।

(४) विश्वास—वास्तवमें विश्वास करने लायक एकमात्र भगवान् हैं। यह सुझाव दिनभरमें कम-से-कम १५-२० बार अवश्य अपने मनको दीजिये कि 'भगवान् आपको कभी धोखा नहीं देंगे, और कोई भी धोखा दे सकता है। सब कुछ भगवान्‌में है, सब कुछ भगवान्‌से बनता है—निकलता है। भगवान् सबको बनाते हैं। सब कुछ भगवान् हैं। जितनी बातें हमारी धारणामें आती हैं, उनसे परे भी भगवान् हैं।'

(५) निषेध—यहाँकी जितनी भी वस्तुएँ हैं, उनके सम्बन्धमें मनको यह सुझाव दीजिये कि वे सभी नश्वर हैं, उनमेंसे किसीपर भी विश्वास नहीं किया जा सकता।

(६) धृति (धैर्य)—कोई भी बात आपको मनके प्रतिकूल दीखे, उसके विषयमें आप मनको सुझायें कि यह सारी प्रतिकूलता अनुकूलतामें निश्चय ही बदल जायगी।

(७) अधृति—एक विचार आपके अंदर ऐसा आना चाहिये कि अब हम एक क्षण भी व्यर्थ नहीं खोयेंगे। इतना ही नहीं, खोनेपर दुःख होना चाहिये। जो समय आपके एवं दूसरोंके लिये परिणाममें सुखदायक हो, वही सार्थक है, बाकी सभी निरर्थक है।

(८) लज्जा—आपसे कोई काम ऐसा हो जाय, जिससे अपना और दूसरोंका अहित होता हो तो उसमें लज्जाका बोध होना चाहिये। यदि कर सकें तो उस भूलको स्वीकार करनेका साहस बटोरना चाहिये।

(९) भय—भय आपको किसी चीजसे नहीं होना चाहिये। जब सब जगह भगवान् हैं, सबमें वे ही भरे हैं, सब वे ही बने हैं, तब हमें भय क्यों और किससे होना चाहिये ?

(१०) निश्चय—ऐसा निश्चय करें कि 'चाहे जो भी हो जाय, मैं मनको भगवान्‌में लगा ही लूँगा—भगवान्‌की कृपाके बलसे।'

प्रातः छः बजेसे प्रति तीन घंटेपर कम-से-कम कुछ क्षणोंके लिये उपर्युक्त दसों बातोंपर विचार करें। ऐसा करनेसे निश्चय ही साधनामें प्रगति होगी।

उठनेके लिये तैयार हो जाइये, वे उठा लेंगे।

जिनसे आपका वास्तविक एवं नित्य सम्बन्ध है, उस सम्बन्धको एवं उनको तो आप अनादि संस्कारोंके कारण, अनन्त जन्मोंकी आसक्तिके कारण, गौण बनाये हुए हैं और जो मिथ्या है, खेलका है, जिससे आपका सम्बन्ध केवल कुछ वर्षोंसे ही है, उसके साथ सम्बन्धको मुख्य बनाये हुए हैं। कुछ वर्ष पहले न तो आपका यह नाम था और न इस शरीरसे ही आपका सम्बन्ध था। इसके पहले दूसरा नाम था, दूसरा शरीर था। उसके पहले भी दूसरा नाम, दूसरा शरीर था। अनन्त जन्मोंमें अनन्त नामों एवं अनन्त शरीरोंके साथ आपका सम्बन्ध हुआ है और सबसे वियोग भी। ऐसे ही प्रारब्ध पूरा होते ही इस शरीर एवं इस नामसे भी वियोग निश्चय हो जायगा। आज जैसे उन शरीरोंके दुःख-सुखसे, उन शरीरोंके नामोंके मान-अपमानसे, उन शरीरोंसे हुए व्यवहारोंसे आपका तनिक भी सम्बन्ध नहीं, वैसे ही इस नामकी प्रशंसा-निन्दा और इस शरीरके सुख-दुःखसे भी तनिक भी सम्बन्ध नहीं रहेगा। जैसे उन अनन्त परिवारोंको सुखी बनानेकी कल्पना भी आपके मनमें अब इस जन्ममें नहीं होती, वैसे ही शरीर छूटते ही इस परिवारको भी (यदि पुनर्जन्म हुआ तो) भूल जाइयेगा। फिर इनके लिये व्यग्रता क्यों ? जब ये छूट ही जायँगे, तब इनके लिये इतनी ममता क्यों ? इन वियुक्त होनेवाली वस्तुओंके ममत्वमें फँसकर, इनके सुधार-बिगाड़से चिन्तित होकर, अपने प्राणनाथ प्रभुके ममत्वको क्यों भूलें ? सचमुच इस मोह-राज्यसे ऊपर उठना पड़ेगा। जिस उपायसे भी हो, उठना पड़ेगा। आप उठ सकते हैं, उनके चरणोंको पकड़कर उठ सकते हैं। इसलिये सच्ची लगनसे, पूर्ण उत्साहसे उठनेके लिये तैयार हो जाइये। आप तैयार हुए कि वे उठा लेंगे।

मूढ़ता

(लेखक—साधुवेषमें एक पथिक)

हम अपने परस्परके व्यवहारमें प्रायः किसीको मूर्ख अथवा मूढ़ कह दिया करते हैं, पर हम भी कहीं मूर्खता अथवा मूढ़तासे घिरे हुए हैं, यह -नहीं देख पाते । हमें गुरुप्रदत्त विवेकद्वारा ज्ञात हो सका है कि जहाँ कहीं हम किसी वस्तुके लोभी बन रहे हैं, किसी भी व्यक्तिके प्रति आसक्त होकर मोही बन रहे हैं अथवा कूपमें रहनेवाले मेढककी भाँति एक सीमाके आगे कुछ देख ही नहीं पाते, वहीं हम मूढ़ हैं । अपने आपको शिक्षित अथवा विद्वान् मानते हुए भी जब हम अपने बन्धनका कारण नहीं जानते तथा अपनी अवनति या रुकावटको नहीं देख पाते, तब मूढ़ ही नहीं, विमूढ़ भी हैं । सुखोपभोगकी मादकतामें मनका मूर्च्छित रहना और अपने हितकी बात न सुनना मूर्खता है; मनके पीछे बुद्धिका अटक जाना या कुण्ठित हो जाना मूढ़ता है ।

ज्ञान-चक्षु न खुलनेतक प्रत्येक सम्बन्ध बन्धनका ही कारण बनता रहता है, इसीलिये विमूढ़ व्यक्ति यथार्थको नहीं देख पाता । दृष्टि न खुली हो तो इन्द्रियोंद्वारा शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धका ग्रहण ही होगा, उनके साथ रहनेवाले परिणामका दर्शन नहीं होगा । आज चारों ओर प्रचारकी ध्वनियाँ सुनायी देती हैं, विचार तो विरले ही कर पाते हैं; विचार करनेवाले भी अनेक विद्वान् हैं, पर उनमें विरले ही अपनी अन्तर्दृष्टिका उपचार करते हैं । हम आत्म-कल्याणकी आशा रखकर जब संत-महात्माओंसे सत्कथा, धर्मचर्चा सुनते हुए असत्से विरक्त और सत्—परमात्मामें अनुरक्त न होकर किसी त्यागी-तपस्वी संन्यासीसे मोह करके तथा अवसर पाकर उसीका-सा वेष बनाकर दूसरोंसे अपने-आपको वैसा ही मनवाकर अपनी पूजा कराते हैं, तब यह भी सद्गति—परमगतिमें बाधा डालनेवाली हमारी मूढ़ता ही सिद्ध होती है । किसी एक मतको मानकर अन्य मतोंका विरोध करना तथा एक धर्मको मानकर अन्य धर्मोंकी निन्दा करना और किसी एक सम्प्रदायसे बँधकर तदनुकूल साधना-पद्धतिका निर्वाह करते हुए सत्य—परमात्माका अनुभव न होनेपर भी अपने-आपको सत्यदर्शी महात्मा मनवाना भी 'मूढ़ता' है । किसी साधकका भगवन्नाम-कीर्तनके द्वारा भगवान्‌का अनुरागी न होकर स्वर-तालका अथवा स्वर-तालसे गानेवालेका रागी बन जाना मूढ़ता है ।

हम किसीको त्यागी मानकर उसकी नकल तो कर लेते हैं, पर शान्ति नहीं पाते; किसीको तपस्वी मानकर उसीकी तरह शरीरपर सर्दी-गर्मी सहने लगते हैं, पर भीतर लोभ, मोह, ममता, अभिमान और कामसे मुक्त होनेकी शक्ति नहीं पाते तथा किसीको संन्यासी मानकर उसीकी तरह वस्त्र रँगकर और वेष बनाकर संन्यासी बन जाते हैं, पर संकल्पों और कामनाओंको नहीं छोड़ पाते, यह सब कुछ हमारी मूढ़ताका ही परिणाम है । हमारा अहंकार सजावट, नकल और बनावटसे भोगी तो बन जाता है, पर सत्य, शान्ति और आनन्दका योगी नहीं हो पाता । गुरुप्रदत्त विवेकद्वारा ज्ञात होता है कि अहंवृत्ति दृश्याकार होनेपर 'अहंकार' कहलाती है । इन्द्रियोंके द्वारा यह अहंकार विषयोंके प्रति अनुकूल वेदनामें अटक जाता है, मनके द्वारा ममतावश मोही, लोभी, कामी और अभिमानी बन जाता है; यह मूढ़ताका ही परिणाम है ।

इन्द्रियोंद्वारा जो कुछ प्रतीत होता है, उसीको सत्य मान लेना 'मूर्खता' है; मनसे माने हुएको सत्य-सुखद मान लेना 'मूढ़ता' है । इसके विपरीत बुद्धिद्वारा मूर्खता और मूढ़ताके दुष्परिणामको जान लेना 'यथार्थ जानकारी' है । मूर्खता, मूढ़ता और जानकारीके भोक्ताको देखना 'ज्ञान' है । समस्त दृश्याकारोंसे असङ्ग होनेपर अहंकारसे मुक्त हो जानेका नाम 'मुक्ति' है, परमात्मासे अभिन्नताकी अनुभूति अथवा प्रभुसे दूरी मिट जाना ही 'प्रेम' है ।

बाल्यकालसे वृद्धावस्थातक जहाँ-कहीं हम परिवर्तनशील रंग, रूप, मधुर शब्द, सुखद स्पर्श तथा सदा न रहनेवाली किसी आकृति या प्रकृतिमें प्रीति लगाकर रागी बन जाते हैं, वहाँतक अपनी मूढ़ताके कारण हम सत्यका अर्थात् आत्माका अनुभव नहीं कर पाते । जिसका मन भौतिक रूपोंकी सुन्दरतामें आसक्त नहीं रहता, वह सुगति प्राप्त करता है । जिसका मन किसी व्यक्तिके गुण और ऐश्वर्यसे मोहित—प्रभावित नहीं होता, वह साधक सद्गति प्राप्त करता है; क्योंकि वह बुद्धियोगद्वारा समस्त गुणों और

ऐश्वर्यको परमात्माके ही जानता है । जो साधक अलौकिक दैवी सौन्दर्य, ऐश्वर्य और चमत्कारोंसे भी विमोहित न होकर तथा उन्हें मायामय जानकर आत्मस्वरूपमें स्थित रहता है, उसे ही परमगति सुलभ होती है । जिस तरह सुगतिमें अटका देनेवाली मूढ़ता सद्गतिमें बाधक है, उसी तरह सद्गतिके प्रति मोह उत्पन्न करनेवाली मूढ़ता परमगतिमें बाधक है ।

परमात्मा एक हैं; उनसे मिलनेके साधन अनेक हो सकते हैं; पर जो साधनोंमें ही अटक जाता है, वही मूढ़तावश परमात्मासे विमुख बना रहता है । परमात्माके दर्शनके द्वार अनेक हो सकते हैं, पर जो द्वारके मोहमें पड़ जाता है, वही मूढ़तावश दर्शनसे वञ्चित रह जाता है । परमात्मा और अहंकारके मध्य सीढ़ियाँ अनेक हो सकती हैं, पर जो किसी सीढ़ीमें ही ठहरकर दृश्य-दर्शनका सुखास्वाद लेने लगता है, वह परमानन्ददर्शनका आस्वाद नहीं ले पाता । परमात्मासे यद्यपि हमारी दूरी नहीं है, तथापि मानी हुई दूरीके मध्यमें रुकावट डालनेवाले तथा अपनी ठोकरसे गिरा देनेवाले अनेक ऊँचे पत्थर हैं; जो जानते हैं, वे उस अवरोधके स्थलको चढ़नेकी सीढ़ी बना लेते हैं, पर अज्ञानी मूढ़जनोंके लिये ऊँचे उठानेवाले खण्ड पतनके हेतु बन जाते हैं । मूढ़तावश जो संयोग पतनके गर्तमें गिराता है, उसीको मूढ़ताके त्यागी छलाँग मारकर पार कर जाते हैं । मूढ़तावश जो साधक नाम-रूपपर अटक जाता है, वह नाम-रूपके प्रकाशक आत्माको नहीं जान पाता । जो किसी रूपकी सुन्दरतापर अटक जाता है, वह मूढ़तावश सौन्दर्य-सिन्धु आत्माका योगी नहीं हो पाता ।

जो साधक विनाशीकी परिधि पारकर अविनाशीको देखता है, उसीकी मूढ़ताका अन्त होता है । जो विनाशी नाम-रूपोंको देखनेवाली दृष्टिके पीछे लौटकर देखनेवाले स्वयंको देख लेता है, उसीकी मूढ़ताका अन्त होता है । जो साधक इन्द्रिय-दृष्टिसे प्रतीत होनेवाले दृश्यका रागी न बनकर, सबसे असङ्ग रहकर द्रष्टामें दृष्टिको लीन कर लेता है, वही मूढ़ताकी सीमासे मुक्त होता है । जो साधक विवेकवती बुद्धिद्वारा अपने साथ रहनेवाली देह-मन आदि वस्तुओंको अपनी न मानकर, अपने लिये कुछ भी न बचाकर सर्वस्व प्रभुकी सृष्टिके सेवार्थ लौटा देता है और अपने लिये कुछ भी नहीं चाहता, वही मूढ़ताके दुष्परिणाम-भोगसे मुक्त हो पाता है ।

मनुष्य-जन्म देनेके लिये है, लेनेके लिये नहीं

इस बातको आप कभी न भूलें कि आपका जन्म देनेके लिये है, लेनेके लिये नहीं । इसलिये आपको जो कुछ देना हो, वह बिना आपत्ति किये, बदलेकी इच्छा न रखकर, दे दीजिये; नहीं तो दुःख भोगने पड़ेंगे । प्रकृतिके नियम इतने कठोर हैं कि आप प्रसन्नतासे न देंगे तो वह आपसे जबरदस्ती छीन लेगी । आप अपने सर्वस्वको चाहे जितने दिनोंतक छातीसे लगाये रहें, एक दिन प्रकृति उसे आपकी छातीपर सवार हो लिये बिना न छोड़ेगी । प्रकृति बेईमान नहीं है, आपके दानका बदला वह अवश्य चुका देगी; परंतु बदला पानेकी इच्छा करेंगे तो दुःखके सिवा और कुछ हाथ न लगेगा । इससे तो राजी-खुशी दे देना ही अच्छा है । सूर्य समुद्रका जल सोखता है तो उसी जलसे पुनः पृथ्वीको तर भी कर देता है । एकसे लेकर दूसरेको और दूसरेसे लेकर पहलेको देना सृष्टिका काम ही है । उसके नियमोंमें बाधा डालनेकी हमारी शक्ति नहीं है । इस कोठरीकी हवा जितनी बाहर निकलती रहेगी, बाहरसे उतनी ही ताजी हवा पुनः इसमें आती जायगी और इसके दरवाजे आप बंद कर देंगे तो बाहरसे हवा आना तो दूर रहा, इसीमेंकी हवा विषाक्त होकर आपको मृत्युके अधीन कर देगी । आप जितना अधिक देंगे, उससे हजार गुना प्रकृतिसे आप पायेंगे । परंतु उसे पानेके लिये धीरज रखना होगा । अनासक्त बनना अत्यन्त कठिन है । ऐसी वृत्ति बनानेके लिये महान् शक्ति प्राप्त होनी चाहिये । हमारे जीवनरूपी वनमें अनेक जाल बिछे हुए हैं; बहुत-से साँप, बिच्छू, सिंह, सियार स्वेच्छासे घूम रहे हैं; उनसे बचकर अपना रास्ता सुधारनेमें हमारे शरीरको चाहे जितने कष्ट क्यों न सहने पड़ें, हाथ-पैर टूटकर हमारा सारा शरीर खूनसे लथपथ क्यों न हो जाय, हमें अपनी मानसिक दृढ़ता ज्यों-की-त्यों बनायी रखनी चाहिये—अपने कर्तव्यपथसे जरा भी न डिगना चाहिये ।

—स्वामी विवेकानन्द

श्रीश्रीचन्दनेश्वर

(लेखक—श्रीशक्तिप्रसाद पाल)

दीघा—समुद्र-किनारेका नया बंदरगाह। यहाँसे समुद्रके किनारे-किनारे तीन मीलतक बसका मार्ग। यहीं है बंगाल और उड़ीसाकी सीमारेखा। रास्ता बादामके जंगलसे भरा हुआ। कहीं-कहीं पानकी लताएँ।

मार्गकी बायीं ओर समुद्र और दायीं ओर बालूके पहाड़। छोटे-छोटे गाँवोंके बीचसे रास्ता। समुद्रका जल तो दिखायी नहीं देता, किंतु सुनायी पड़ता है गर्जन! सीमा-रेखासे करीब एक घंटेका पैदल चलनेका मार्ग। खूब ही शान्त और गम्भीर परिवेश। पेड़-पौधे, झाड़-झंखाड़ मन्दिरके चारों ओर। एक तालाब और किनारेपर एक वट-वृक्ष। वटके किनारे चारों ओर केश-स्तूप। देवकी मानता करनेवाले मुण्डन कराकर केश-राशि वट-वृक्षके समीप चढ़ा देते हैं।

तालाबके समीप ही शिव-मन्दिर। नाम चन्दनेश्वर। लगभग तीन-चार सौ वर्ष पुरानी कथा है। उस समय इस समुद्रका तटवर्ती स्थान भीषण-कण्टकलताओंसे समाकीर्ण, बृहत्-बृहत् पादप-राजियोंसे शोभित विस्तीर्ण भूभाग जनबस्तीसे शून्य था। इस जंगलके समीप बनानी नामका गाँव है। उस ग्रामके वासी जन भी इस जंगलमें आनेका साहस नहीं करते थे; क्योंकि रात्रिकालमें अनेक तरहके अलौकिक शब्द और आलोकराशि प्रज्वलित होती हुई देखी जाती थी।

मुगल साम्राज्यका समय था। बाँकुड़ाके 'भू-झा'—पदवीधारी भूम्यधिकारीके उच्च-पदस्थ कर्मचारी पं० हरि-चन्दन पंत इस गाँवमें पाइक बरकंदाज (सिपाही) के साथ नियुक्त थे।

बनानी गाँवके समीप ही तेलियोंकी एक बस्ती थी। गेहली नामकी एक विधवा स्त्री उस गाँवमें रहती थी। उसकी एक सर्वाङ्गसुन्दरी कन्या थी, नाम था लक्ष्मी। लक्ष्मी बनानी ग्रामस्थित सरकारी कर्मचारी पं० पंतके यहाँ दूध पहुँचाती थी। पंत महाशय बालिकापर अत्यन्त स्नेह करते थे। बालिकाकी तीक्ष्ण बुद्धि देखकर पंत महाशय उसे कुछ लिखना-पढ़ना सिखाने लगे। कुछ ही समयमें बालिकाने रामायण-महाभारत-पुराणादिका श्रवण और पाठ मनोनिवेश-पूर्वक करते हुए अल्पवयसमें ही पूजा-पाठमें मन लगा लिया। वयस्का होनेपर समीपवर्ती गाँवकी एक विधवाके पुत्रके साथ उसका विवाह हो गया। श्वशुरालयमें जानेपर लक्ष्मी गृहकार्यमें मन न लगाकर सर्वदा पूजा-पाठमें ही लगी रहने लगी। सासने उसे साधना-भजन-पूजनमें लगी देखकर और गृहकार्यमें योग न देनेके कारण घरकी कुछ गायोंको चरानेका काम सौंप दिया। लक्ष्मी सानन्द गोचारणमें प्रवृत्त हो गयी और उन्हें समीपवर्ती जंगलमें ले जाने लगी। वहाँ पहुँचकर वह गायोंको छोड़ देती और स्वयं ध्यान तथा पूजा-पाठमें लग जाती। संध्या होनेपर गायोंको इकट्ठा करती, घर लौट आती। सास दुधारू गायोंके बच्चोंको घरमें बाँध रखती और गायोंके चर-कर लौट आनेपर उनका दूध दुहती थी। धीरे-धीरे गायोंका दूध कम होने लगा। वृद्धा सास अपनी पुत्र-वधूपर संदेह करके उसे अपमानित करने लगी। बालिका-वधू इस रहस्यको कुछ समझ न पानेके कारण व्याकुल दृष्टिसे ताकती रहती। क्रमशः गायोंके दूध देना बंद करनेके साथ-साथ सासने वधूको मारना-पीटना चालू कर दिया। कष्ट और वेदनासे पीड़ित लक्ष्मीने एक दिन सासका पदस्पर्श करके शपथ ली कि 'यदि मैं दुग्धहारीको पकड़ न पाऊँगी तो घर लौटकर नहीं आऊँगी।' यों कहकर नियमितरूपसे वह बालिका-वधू गायोंको लेकर जंगलमें गयी और उसने उन्हें चरनेको छोड़ दिया। साथ ही गायोंकी गति-विधिपर लक्ष्य रखते हुए वह आशुतोष भवानीपतिका स्मरण करने लगी। थोड़े समय बाद ही गायें हंबा-हंबा करके रँभाती हुई उस घने जंगलकी ओर बढ़ने लगीं। लक्ष्मी भी उनके पीछे-पीछे चलने लगी। गायें घने जंगलमें घुसकर एक बिल्व-वृक्षके नीचे जा खड़ी हुईं। स्थान अतीव सुरम्य और नानाजातीय पुष्पादिके वृक्षोंसे सुशोभित था। अकस्मात् शून्य मार्गपर दुन्दुभिनाद-जैसी आवाज आने लगी। वृक्षमूल-निकटस्थ मृत्तिका विदीर्ण होकर एक गह्वर दृष्टिगोचर होने लगा। उस गह्वरके ऊपर गायें एक-एक आकर खड़ी होने लगीं। उनके आनेपर अपने-आप स्तनोंसे दुग्ध-धारका बहना शुरू हो जाता और उसी समय वृक्षोंसे पत्र-पुष्प गिरने लगते। इस आश्चर्यमयी घटनाको देख लक्ष्मी भावविह्वल हो उठी। उस गह्वरके निकट जाकर उसने साष्टाङ्ग दण्डवत् किया तथा कातरभावसे भवानी-पति आशुतोषको पुकारने लगी। संध्या होनेपर गायें घर लौट आयीं। साथमें बालवधूको न देख सासने अपने लड़केको

बुलाया और बहूको खोज लानेके लिये कहा। पास ही उसका पितृ-गृह था। अपने मायके चली गयी होगी, यह सोचकर पुत्र ससुराल जा पहुँचा। किंतु वहाँ भी उसका पता न पाकर उसने अपनी साससे लक्ष्मीके सम्बन्धकी सब बातें बतला दीं। कन्याकी बात सुनकर मा सिर पीटती हुई पं० पंत महाशयके समीप पहुँची और रोने-चिल्लाने लगी। पण्डितजीने उसे सान्त्वना देते हुए अपने सिपाहियोंको उस लड़कीकी खोज-खबर लेनेके लिये चारों ओर भेजा। सब मिलकर और मशाल जलाकर जंगलके सुगम स्थानोंको देखकर लौट आये। किसी हिंसक जन्तुने मारकर बालिकाको खा डाला होगा, यह सोचकर सब शोक मनाने लगे।

उधर दुर्गम अरण्यके उस विल्वमूलके नीचेके विवरके निकट पड़ी हुई लक्ष्मी एकनिष्ठ होकर विश्वपिताको पुकार रही थी। इस तरह उसकी तीन दिन और तीन रातें आहार-निद्रा-रहित एवं उस हिंस्रजन्तुसमाकुल भीषण अरण्यकी भीतिप्रद विभीषिकाकी परवा किये बिना अपने कलङ्कको दूर करानेकी प्रार्थना करते हुए उसकी बीतीं।

आशुतोष भोलेनाथ महेश्वर भक्तकी दृढ़तापर मुग्ध होकर उस विवरमेंसे प्रकट हो गये। चारों दिशाएँ ज्योतिसे जगमगा उठीं। लक्ष्मी उस ज्योतिर्मय मूर्तिके दर्शनकर आत्मविस्मृत हो गयी। चरणोंमें गिर पड़ी। कुछ बोल न सकी। तभी भगवान् शंकर लक्ष्मीको सम्बोधित कर कहने लगे—'पूर्व-जन्मके पुण्यफलसे तुझे मेरा दर्शन मिला है। जा, अब घर जा। तेरी सास आदि तुझे बिना देखे अत्यन्त कातर हो उठे हैं। आजसे हम अपनी इस लीलाभूमि हुगली जंगलके अन्तर्वर्ती इस बिल्ववृक्ष-मूलके विवरमें अवस्थान करेंगे। इससे पूर्व एक महात्मा सिद्ध पुरुष यहाँ हमारे प्रकट होनेकी सम्भावनाको लिये हुए समीप ही रह रहे हैं। कल तुझे उनका साक्षात्कार होगा। उड़ीसा राज्यद्वारा विताडित एक शिवभक्त ब्राह्मण अगनी पंडा भी यहाँ समीप ही रहता है। उसे भी रात्रिको मैंने स्वप्न दिया है। तेरी सासको स्वप्नादेश दिया गया है। सब मिलकर इस जंगलको साफ करना और हमारी इस विवरमें पूजा करना। यहाँ चन्दनेश्वरके नामसे हम प्रसिद्ध-होंगे। भक्तिपूर्वक हमारी अर्चना करनेपर तुम सबके अभीष्ट-की सिद्धि होगी। आजसे तेरी वंश-परम्परा हमारी पट्टभक्त होगी। चैत्रमें उत्सवके समय हमारा व्रत करनेसे अभीष्टकी सिद्धि होगी।' इस प्रकार उपदेश देकर शंकर भगवान् अन्तर्धान हो गये। लक्ष्मी भावविह्वल बनी हुई सबेरे ही घरकी ओर लौट गयी।

रातको लक्ष्मीकी सासको निद्रावस्थामें भैरवरूपमें त्रिशूल लिये हुए भगवान् शिव दिखायी दिये और कह गये कि 'बुढ़िया! तूने अपनी पुत्रवधूको दूध चोरी करके पीनेका कलङ्क लगाकर दण्ड दिया है। किंतु उसने दूध नहीं पिया है। हमारे मस्तकपर सभी गायें दुग्ध क्षरण करती थीं। तेरी बहू वर प्राप्त करके वापिस आ रही है। आदरपूर्वक उसको घर ले आ और हमारी नित्य-लीलास्थली हुगली-जंगलको साफ कर सेवा-पूजामें सहायक बन। नहीं तो यह त्रिशूल तेरी छातीमें भोंक दूँगा।' भयसे बूढ़ी चिल्ला पड़ी। पुत्रको बुलाकर उसने उसे सपनेकी बात सुनायी और काँपती रही। इधर अगनी पंडाको स्वप्नादेश हुआ और वह लक्ष्मीके घरकी ओर चल पड़ा। बुढ़ियाने दरवाजा खोलते ही सामने अपनी बहूको खड़ी पाया। सास बहूको अपनी छातीसे लगाकर रोने लगी। सब मिलकर पंडेके घरकी ओर चले। मार्गमें उससे भेंट हो गयी। परस्पर एक-दूसरेके साथ घटी हुई घटनाकी चर्चा हुई। पीछे जंगल-सफाईकी व्यवस्था की गयी। विवरमें यथाविधि पूजा-अर्चना की गयी। सिद्ध पुरुषको भोलानाथके प्राकट्यका समाचार प्राप्त हो गया। इसलिये वे भी चन्दनेश्वर शिवके सामने वृक्षमूलपर अपनी धूनी जलाकर ध्यानस्थ हो बैठ गये। लक्ष्मीको भक्तिमती देखकर उन्होंने उसे शिव-मन्त्रकी दीक्षा दी। लक्ष्मी भी संन्यासीकी तरह कालयापन करने लगी। क्रमशः देश-देशान्तरसे बाबाके अद्भुत प्राकट्यकी कथा सुनकर यात्रियोंके दल-के-दल वहाँ आने लगे और पूर्ण समारोहके साथ वहाँ सेवा-पूजा होने लगी।

कुछ समय बाद समुद्रके किनारे-किनारे चलती हुई यवन-सेनाने एक दिन इस स्थानपर अपनी छावनी डाली। सबेरे ही शङ्ख, घंटे और ढोलकी आवाज सुनकर सेनाकी एक टुकड़ी मन्दिरके सामने आ उपस्थित हुई। सामने गैरिक वस्त्र धारण किये आलोलित-कुन्तला अद्भुत लावण्यशालिनी लक्ष्मीको देखकर उन्होंने अपने अध्यक्षको सूचना दी—'जनाब, एक स्वर्गकी हूरको काफिरोंके मन्दिरके सामने देखकर हमें आश्चर्य हुआ है। ऐसी अपरूप सुन्दरी हमने नवाबके बेगम-महलमें भी नहीं देखी।' खबर पाकर अध्यक्ष भी ससैन्य अस्त्र-शस्त्र लेकर मन्दिरके सामने आ उपस्थित हुआ। स्वेच्छाचारी यवनाध्यक्षने अपने अनुचरोंको आदेश दिया—'इस युवतीको गिरफ्तार कर लो। तोपसे इस मन्दिरको उड़ा दो।' आदेश मिलते ही सेनाके लोग अस्त्र-शस्त्र लेकर चढ़ दौड़े। आकस्मिक आक्रमण होनेसे जन-समुदाय इतस्ततः विक्षिप्त, भीत, कम्पित हो उठा। लक्ष्मी सिद्ध महात्माके

पदतलमें गिर गयी—'रक्षा करो, गुरुदेव !' महात्माने उसे मन्दिरमें भेजकर कहा कि 'प्रभुकी शरण लो' और यवनाध्यक्ष-की ओर कुटिल कटाक्षपात किया। लक्ष्मी मन्दिरमें चली गयी और शरणागतवत्सल सर्वशक्तिमान् स्वयम्भू भगवान्‌का स्तवन करने लगी। सेना मन्दिरको चारों ओरसे घेरकर गोले-गोलियाँ छोड़ने लगी। किंतु कैसा आश्चर्य ! कमान-बंदूकसे गोले एवं गोलियाँ निकलीं ही नहीं। यवन-अध्यक्ष क्रोधमें बावला बनकर मन्दिरमें घुस उस लक्ष्मीको पकड़नेके लिये तैयार हो गया। तभी चारों ओरसे कम्पित करनेवाले भीषण स्वर उठने लगे। सेनाके हाथसे अस्त्र-शस्त्र ढीले होकर गिरने लगे। भूगर्भसे अट्टहासकी ध्वनि करते हुए एक विशालकाय पुरुष लक्ष्मीके हाथमें एक त्रिशूल देकर शून्यमें विलीन हो गया। लक्ष्मी उस विराट् त्रिशूलको हाथमें पाकर अध्यक्षकी ओर अग्रसर हुई। अध्यक्ष विस्मित और भीत होकर लक्ष्मीके पाँवोंपर गिर पड़ा और हाथ जोड़कर क्षमाकी भिक्षा माँगने लगा। वह सजल नयनोंसे कहने लगा—'माँ गुस्सा हो गयी हो ? माफ करो, माँ ! हिंदू-देवताओंकी करामात हमारे अकबर बादशाह-की जानी हुई है। हम अपनी नाक घिसकर सलाम देते हैं। आजसे इन चन्दनेश्वर देवके इलाकेमें किसी यवनको अत्या-चार करनेका अधिकार नहीं होगा। हम पीतलका पंजा और सनद देकर यहाँकी समस्त भू-सम्पत्ति देवार्पण किये देते हैं।' इस प्रार्थनाके पश्चात् सब कुछ प्रकृतिस्थ हो गया। लक्ष्मी भी बाबाकी असीम करुणा देखकर नतजानु हो प्रभु-चरणोंमें प्रणत हुई। अध्यक्ष सेना लौटाकर और सलाम करते-करते वह स्थान छोड़ गया। बाबाकी इस प्रकारकी अलौकिक महिमाकी खबर चारों ओर फैल गयी। हजारों नर-नारी देश-विदेशसे अपने रोग-शोक, पाप-तापसे मुक्ति पानेके लिये आने और मनोवाञ्छित फल पाने लगे। वहाँ आनेवाले निस्संतान व्यक्ति पुत्रवान् होकर आज भी आनन्दलाभ करते हैं। अनेकों मानता मानते हैं और सफलमनोरथ होते हैं। रोग-शोकसे मुक्तिलाभ करते हैं। ऐसे चमत्कारी देवको हमारे शतशः प्रणाम। (बँगला 'मन्दिर'से)

श्रीभुवनेश्वरी देवीका शाश्वत सार्वभौम राज्य

(लेखक—पं० श्रीकुबेरनाथजी शुक्ल)

सृष्टिके सम्बन्धमें शास्त्रोंमें अनेक मत व्यक्त किये गये हैं और उनकी प्रक्रिया भी अपनी-अपनी निराली है। आधुनिक वैज्ञानिकोंने भी सृष्टिके सम्बन्धमें अपने विचार प्रकट किये हैं। विकासवाद, परिणामवाद, विवर्तवाद प्रभृति अनेक वाद प्रचलित हैं। 'इदमित्थम्' कहना दुस्साहसमात्र है। प्रस्तुत लेखमें जिन देवीजीका वर्णन है, वे वैज्ञानिक खोज-की परिधिसे बहुत ऊपर हैं। अतः देवीभागवतके आधारपर यह निबन्ध प्रस्तुत किया जा रहा है।

देवर्षि नारदने अपने पिता ब्रह्माजीसे पूछा—'ब्रह्मन् ! ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति कैसे होती है और सर्वोत्कृष्ट आराध्य कौन है ? कृपया स्पष्ट बतलाकर मेरे संशयका निराकरण कीजिये।'

ब्रह्माजी बोले—"प्रलयकालमें ब्रह्माण्डके समस्त स्थावर-जङ्गम सृष्टि नष्ट हो जाती है और सर्वत्र जलका समुद्र दृष्टि-गोचर होता है। उस समय जलके अतिरिक्त और कुछ नहीं रहता। अकस्मात् कमलसे मेरी उत्पत्ति हुई। मैंने सूर्य, चन्द्र, वृक्ष, पर्वत आदि कुछ भी नहीं देखे। उस समय मैंने चिन्ता की कि 'इस समुद्रमें कैसे मेरा जन्म हुआ ? कौन हमारा रक्षक प्रभु है ? कौन कर्ता और संहर्ता है। कहीं पृथ्वी दृष्टिगोचर नहीं होती। किस आधारपर यह महान् जल-समुद्र स्थित है ?' पङ्कजकी उत्पत्ति पङ्कसे होती है। अतः मैं पङ्ककी खोज करने लगा। सहस्रों वर्षोंतक खोज करनेपर भी मैंने कहीं पङ्क नहीं देखा।

"आकाशवाणी हुई—'तप करो।' तदनुसार मैंने कमलपर सहस्रों वर्षोंतक तप किया। पुनः आकाशवाणी हुई—'सृष्टि करो।' उसको सुनकर मैं ऊहापोहमें पड़ गया कि 'कैसे सृष्टि करूँ ?' उस समय दो भयंकर दैत्य—मधु और कैटभ—अकस्मात् आविर्भूत हुए और युद्धके लिये मुझे ललकारने लगे। मैं कमलनालको पकड़कर नीचे जलमें उतरा, वहाँ मैंने एक अद्भुत पुरुषको देखा। मैंने मेघश्याम, चतुर्भुज, पीताम्बर, शेषशायी, वनमाला-विभूषित, शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मप्रभृति आयुधोंसे सुशोभित विष्णु भगवान्‌को शेष-पर्यङ्कपर सुप्त देखा। वे योगनिद्रासे आक्रान्त होकर निश्चेष्ट पड़े थे। मुझे चिन्ता हुई कि 'अब क्या करूँ ?' तब मैंने निद्रास्वरूपिणी तामसी महाशक्तिका स्मरण किया। वे देवी विष्णुभगवान्‌के शरीरको छोड़कर दिव्याभरणोंसे विभूषित हो आकाशमण्डलमें स्थित हो गयीं। उनसे वियुक्त हो जानेपर विष्णुभगवान् उठ बैठे। उन्होंने दोनों भयंकर दानवोंको

देखा। पाँच सहस्र वर्षोंतक बाहु-युद्ध करके उन्होंने उन दैत्यों-को मार डाला। उस समय वहाँ रुद्र भी आ गये। हम तीनोंने प्रसन्नचित्तसे उस मनोहर देवीको देखा और उनकी स्तुति की। देवीजीने अपनी कृपादृष्टिसे हम तीनोंको पवित्र और मुदित कर दिया। देवीजीने कहा—'त्रिदेव ! आपलोग अपना-अपना कार्य करें। आपलोग अपना-अपना आवास बनाकर वहाँ वास करें और अपनी विभूतियोंसे चतुर्विध प्रजाओंकी सृष्टि करें।'

"देवीजीके मधुर शब्दोंको सुनकर हम तीनोंने कहा—'हमलोग सृष्टि करनेमें असमर्थ हैं। पृथ्वी कहीं दृष्टिगोचर नहीं हो रही है। सर्वत्र जल-ही-जल दिखलायी पड़ रहा है। महाभूत, त्रिगुण, तन्मात्राएँ और इन्द्रियगण भी दृश्य नहीं हैं।'

"हमलोगोंके वचन सुनकर देवीजी मुसकरा दीं। तत्काल आकाशमण्डलसे एक विमान आया। देवीजीने कहा—'देवगण ! आपलोग इस विमानपर बैठ जायँ।' देवगण विमानपर बैठ गये और देवीजीके संकेतपर वह विमान उड़ा।

"वह विमान मनोवेगसे एक ऐसे स्थानपर जा पहुँचा, जहाँ जल नहीं था। हमलोग उस स्थानको देखकर चकित हो गये। वहाँ कोकिलोंके कूजितसे रम्य विविध फलोंके वृक्ष, पृथिवी, पर्वत, वन, उपवन, स्त्री-पुरुष, पशु, पक्षी, नदी, वापी, तडाग, कूप, निर्झर प्रभृति दृष्टिगोचर हो रहे थे। वहाँ दिव्य प्राकारोंसे विभूषित एक सुन्दर नगर दृश्यमान था, जो विविध यज्ञशालाओं, अट्टालिकाओं तथा विशाल भवनोंसे सुशोभित था। उसको देखकर 'यह स्वर्ग है' ऐसा हमलोगों-को आभास हुआ। कुछ ही समयमें वातप्रेरित वह विमान स्थानान्तरपर गया। हमलोग नन्दनवनमें पहुँच गये। वहाँ पारिजात वृक्षकी छायामें सुरभि (कामधेनु) बैठी थी। उसके समीपमें ऐरावत नामका हाथी था। वहाँ मेनका प्रभृति अप्सराएँ क्रीडा कर रही थीं और विविध हाव-भावोंके साथ नृत्य-गान कर रही थीं। वहाँ सैकड़ों गन्धर्व, यक्ष, विद्याधर प्रभृति मन्दार वृक्षोंकी वाटिकामें गा रहे थे और खेल रहे थे। शचीके साथ इन्द्र भी वहाँ दृष्टिगोचर हुए। स्वर्गको देखकर हमलोग आश्चर्यचकित हो गये। वहाँ वरुण, कुबेर, यम, सूर्य, अग्नि—सारे प्रधान देवता उपस्थित थे।

"पुनः वेगसे वह विमान स्थानान्तरके लिये उड़ा और ब्रह्मलोकमें जा पहुँचा। ब्रह्माजीको देखकर विष्णुभगवान् और शंकरजी विस्मित हुए। वहाँ सभामें सभी वेद अपने-अपने अङ्गोंके साथ उपस्थित थे। सागर, नदियाँ, पर्वत, उरग प्रभृति विद्यमान थे। विष्णुभगवान् और शंकरजीने मुझसे पूछा—'ब्रह्मन् ! यह सनातन ब्रह्मा कौन है ?' मैंने उत्तरमें कहा—'मैं इस सृष्टिकर्ता ब्रह्माको नहीं जानता। मुझे आश्चर्य है कि ये कौन हैं और मैं कौन हूँ।'

"मनोवेगसे वह विमान वहाँसे उड़ा। कुछ ही क्षणोंमें वह कैलासपर्वतके शिखरपर पहुँच गया। कैलास यक्षगणोंसे परिपूर्ण तथा अतिरम्य था। वहाँ सुन्दर मन्दार-वाटिकाओंमें कीर, कोकिल प्रभृति पक्षी मधुर कलरव कर रहे थे। वहाँ वीणा, मुरज प्रभृति सुन्दर वाद्य बज रहे थे। विमानके पहुँचते ही त्रिलोचन, पञ्चानन, दशभुज शंकर भगवान् व्याघ्रचर्म धारण किये तथा गजचर्मका उत्तरीय लिये, मस्तकपर अर्धचन्द्रसे अलंकृत, वृषारूढ़ अपने सदनसे बाहर निकले। साथमें उनके पुत्र गजानन और षडानन भी थे। नन्दी प्रभृति गण पीछेसे जय-शब्दोद्घोष करते हुए चल रहे थे। उस दूसरे शंकरको देखकर हमलोग विस्मयान्वित हुए।

"कुछ क्षणोंमें वह विमान उस पर्वतशिखरसे उड़ा और वैकुण्ठमें पहुँच गया। वहाँ हमलोगोंने अलौकिक विभूतियाँ देखीं। विष्णुभगवान् उस उत्तम पुरको देखकर अत्यन्त विस्मित हुए। अतसी कुसुमके समान कान्तिमान्, पीताम्बर, चतुर्भुज विष्णुभगवान् दिव्याभरणोंसे विभूषित गरुडपर आरूढ़ दृष्टिगोचर हुए। लक्ष्मीजी उनपर चमर आन्दोलित कर रही थीं। उन सनातन विष्णुको देखकर हमलोग अतिविस्मित हुए।

"वहाँसे वह विमान वायुवेगसे उड़ा और सुधा-समुद्रमें पहुँच गया। वह समुद्र जलचरोंसे परिपूर्ण, चञ्चल तरङ्गोंसे युक्त तथा मन्दार, पारिजात, बकुल प्रभृति वृक्षोंसे सुशोभित था। वहाँ कोकिल कूज रहे थे, भ्रमर गुंजार कर रहे थे और दिव्य पुष्पोंकी सुगन्ध फैल रही थी। हमलोगोंने दूरसे एक सुन्दर, आकर्षक पर्यङ्क (पलंग) देखा, जो रत्नसमूहसे खचित एवं अलंकृत था। उसपर उत्तमोत्तम आस्तरण बिछे थे और एक दिव्य वराङ्गना बैठी थीं, जिन्होंने रक्तमाला एवं रक्तवस्त्र धारण कर रखे थे तथा जो रक्तगन्धोंसे लिप्त थीं। उनकी आँखें रक्त थीं। उनकी प्रभा कोटि विद्युत्के समान थी। उनका मुख सुषमाकी मूर्ति था। उनकी कान्ति करोड़ों लक्ष्मियोंकी कान्तिसे भी अधिक थी। वे थीं भुवनेश्वरी

देवी, जिनका सौन्दर्य अदृष्टपूर्व था। वे करुणाकी मूर्ति थीं और उनका मुखाम्बुज मन्दस्मितसे विभूषित था। सखीवृन्द उनकी स्तुति कर रहा था और वे अमर-कन्याओंसे घिरी हुई थीं। उन दिव्य सौन्दर्यमयी अलौकिक सुषमा-सम्पन्न देवीको देखकर हम तीनों अत्यन्त चकित हुए। वे कोई अप्सरा, गन्धर्वी अथवा देवाङ्गना नहीं थीं। वे कौन हैं, यह जाननेको हमलोग अत्यन्त उत्सुक थे।

"विष्णुभगवान्ने अपने ज्ञानसे मनमें निश्चय किया कि 'ये भगवती हम सबोंकी जननी हैं। वे महामाया, महाविद्या, अविनाशी पूर्ण प्रकृति हैं। वे मन्दबुद्धियोंके लिये दुर्ज्ञेय हैं। मन्दभाग्योंके लिये वे दुराराध्य हैं। वे वेदगर्भा, विशालाक्षी और लोककी अधीश्वरी हैं। वे प्रलयकालमें समस्त विश्वको आत्मसात् करके क्रीड़ा करती हैं। वे सब प्राणियोंके मूलतत्त्वको अपनेमें निविष्ट कर लेती हैं। वे सम्पूर्ण ब्रह्माण्डका मूल कारण हैं। उनकी असंख्य विभूतियाँ उनके पार्श्वमें स्थित हैं। दिव्याभरणोंसे विभूषित एवं दिव्य गन्धोंसे अनुलिप्त होकर वे सेवामें तत्पर हैं। हमलोग धन्य हैं, सर्वथा कृतकृत्य हैं, जो साक्षात् भगवतीका दर्शन कर रहे हैं। पूर्वकालमें जो तप किये गये हैं, उनके ये फल हैं। जो तपस्वी और पुण्यात्मा हैं, वे ही देवीजीका दर्शन प्राप्त कर सकते हैं। देवीजी मूल प्रकृति हैं, जो सदा परमपुरुषके साथ सानन्द निवास करती हैं। वे ब्रह्माण्डका निर्माण करके परमपुरुषको दिखलाती हैं और इस प्रकार उनका मनोरञ्जन करती हैं। ये वे ही वराङ्गना हैं, जिन्होंने शैशवावस्थामें वट-पत्रके ऊपर शयन करते हुए तथा बाल-स्वभाववश विविध क्रीडा करते हुए मुझे बड़े प्रेमसे खिलाया था। ये निश्चय ही हमलोगोंकी माता हैं, जिन्होंने हमलोगोंको जन्म दिया है।'

"यों कहकर विष्णुभगवान् बोले—'आओ, हमलोग इनके समीप चलें और इन्हें पुनः-पुनः प्रणाम करें। ये निश्चय ही हमलोगोंको वर प्रदान करेंगी। यदि द्वारपाल हमलोगोंको इनके समीप जानेसे रोकेंगे तो हमलोग सावधान होकर बाहरसे ही देवीजीकी स्तुति करेंगे।'

"विष्णुभगवान्के यों कहनेपर हम तीनों समीप जानेको उद्यत हुए। विमानसे उतरकर हमलोग द्वारपर पहुँच गये। देवीजी हमलोगोंको देखकर मुस्करा दीं। हमलोग सुन्दर आभूषणोंसे विभूषित दिव्य युवतियोंके रूपमें परिणत हो गये। हमलोग विस्मयान्वित होकर देवीजीके समीप गये। उन्होंने हमलोगोंको स्नेहार्द्र दृष्टिसे देखा। देवीजीको प्रणाम-कर हमलोग वहाँ खड़े हो गये और कोटि सूर्योंके समान देदीप्यमान, विविध रत्न-मणि-जटित देवीजीके पादपीठको देखने लगे। वहाँ रक्ताम्बर, पीताम्बर, नीलाम्बर धारणकर विविध आभूषणोंसे विभूषित सुन्दरी स्त्रियाँ परिचर्यामें लगी हुई थीं। कुछ स्त्रियाँ नाच रही थीं, कुछ गा रही थीं और कुछ वीणा एवं मारुत-वाद्योंको बजा रही थीं। नारद! वहाँ हमलोगोंने एक अद्भुत दृश्य देखा। देवीजीके चरण-पङ्कजोंके नखोंमें समस्त ब्रह्माण्ड (स्थावर-जङ्गम) दिखलायी पड़ा। मैं, विष्णु, रुद्र, वायु, यम, अग्नि, सूर्य, चन्द्र, वरुण, कुबेर, अश्विनीकुमार, वसु, इन्द्र आदि देवगण; पर्वत, सागर, नदियाँ, गन्धर्व, अप्सराएँ, नारद, तुम्बुरु, हाहा-हूहू आदि गन्धर्व, सिद्ध, साध्य, सिद्धगण, नाग, शेष, किंनर, उरग, राक्षस प्रभृति तथा वैकुण्ठ, कैलास, ब्रह्मलोक प्रभृति सब कुछ दृष्टिगोचर हो रहा था। मैंने अपने उद्भवके कारण कमल, चतुरानन ब्रह्मा, शेषशायी जगन्नाथ तथा मधु-कैटभको देखा। यह सब देखकर हमलोग चकित हो गये। हमलोगोंने निश्चय किया कि देवीजी विश्वकी माता हैं। उस मङ्गलमय सुधाद्वीपमें क्रीडा-कलापको देखते हुए हमलोगोंके शत वर्ष व्यतीत हो गये।

"युवतीरूपमें विष्णुभगवान् उन महादेवी भुवनेश्वरीकी स्तुति करने लगे। उन्होंने कहा—'सर्वविश्वाधिष्ठान, सच्चिदानन्दरूपिणी श्रीभुवनेश्वरी भगवतीको मैं प्रणाम करता हूँ। मातः! मैंने जान लिया कि आप समस्त ब्रह्माण्डोंकी अधिष्ठात्री देवी हैं। जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश आपसे ही होते हैं। सदसद्विकारभूत इस प्रपञ्चमय जगत्को निर्मित कर आप सनातन पुरुषको दिखलाती हैं। आप समस्त ब्रह्माण्डोंमें व्याप्त हैं। आपके बिना किसी वस्तुका अस्तित्व नहीं है। आपके चरित्र और वैभवको कौन जान सकता है? आपने मधु-कैटभसे हमलोगोंको बचाया! आपके दर्शनसे मैं, ब्रह्मा तथा शिव—तीनों दिव्य आनन्दका अनुभव कर रहे हैं। देवि! जब आपके दिव्य चरित्रको ब्रह्मा, मैं एवं शिव प्रभृति महादेव भी नहीं जान सकते, तब अन्य जन क्या समझ सकते हैं। हमलोगोंने यहाँ अन्य ब्रह्मा, विष्णु और शंकरको देखा। अन्य ब्रह्माण्डोंमें अन्य

ब्रह्मा, विष्णु, शंकर अवश्य होंगे । देवि ! प्रार्थना यह है कि आपका यह दिव्य रूप—आपके चरण-कमल—मेरे चित्तमें सदा बसे रहें । आपका नाम कर्णकुहरमें सदा सुनायी दे । आप सेवकके रूपमें मुझे सदा स्मरण करें । हमलोगोंका माता और पुत्रका सम्बन्ध सदा बना रहे । वैसे लोकमें यह प्रसिद्ध है कि ब्रह्मा सृष्टि करते हैं, विष्णु पालन करते हैं और रुद्र संहार करते हैं; परंतु वास्तवमें यह सब आपकी कृपापर ही अवलम्बित है । आपकी अनुकम्पाके बिना हमलोग अपने नियत कार्योंको सम्पन्न करनेमें समर्थ नहीं हैं । आपकी शक्तिसे पृथिवी और पर्वत जगत्‌को धारण करते हैं । सूर्य और चन्द्र आपकी प्रभासे प्रकाशमान होते हैं । सभी देवता जन्म लेते हैं; केवल आप नित्य हैं, अज हैं और सनातन हैं । आप विद्वज्जनोंकी विद्या हैं, शक्तिधारियोंकी शक्ति हैं और जगत्‌की कीर्ति, कान्ति एवं लक्ष्मी हैं । जीव अनादि-निधन सनातन पुरुषके अंश हैं—उसी प्रकार जैसे पूर्ण समुद्रके तरंग । आप जीवोंकी सृष्टि मुक्तिके निमित्त करती हैं । जगत्‌की रक्षा करनेवाली आपको मैं प्रणाम करता हूँ । आप हमें सदा ज्ञानका प्रकाश देती रहें ।'

"विष्णुभगवान्‌के पश्चात् शिवजी बोले—'देवि ! जब विष्णु और ब्रह्मा आपसे उत्पन्न हैं, तब मैं भी सुतरां आपसे उत्पन्न हूँ । आप पृथिवी, जल, आकाश, वायु और अग्नि हैं । आप ही पञ्च महाभूत, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि एवं अहंकार हैं । जो हमलोगोंको संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और विनाशका कर्ता कहते हैं, वे तत्त्वविद् नहीं हैं । वस्तुतः सर्वविध कर्तृत्व आपमें ही है । आपके चरण-कमलोंकी रजको धारणकर हम त्रिदेव जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश करते हैं । आप मुझे अपने चरण-कमलोंकी सेवा करनेका अवसर प्रदान करें । आपके चरण-कमलको छोड़कर मैं कैलास जाना नहीं चाहता । जो ऋषि-मुनि आपके चरण-पङ्कजको छोड़कर तपमें संलग्न हैं, वे तत्त्वज्ञानसे वञ्चित हैं । आपके चरण-कमल-पराग-सेवनसे जैसे अनायास मुक्ति मिल जाती है, वैसे तप, यज्ञ और समाधि-से नहीं मिलती । देवि ! पूर्वजन्ममें अधिगत नवार्णमन्त्र मुझे विस्मृत हो गया है । कृपया मन्त्रोपदेशसे मेरा उद्धार कीजिये ।' इसपर माताजीने नवार्णमन्त्रका स्पष्ट उच्चारण किया । शिवजीने भी देवीजीके चरण-कमलोंको प्रणाम कर उस महामन्त्रको ग्रहण किया और उसका जप करने लगे ।

"शिवजीके पश्चात् ब्रह्माजी बोले—'मातः ! मुझे ब्रह्माण्डके कर्तृत्वका अभिमान हो गया था ! फलतः मैं भवसागरमें डूबने लगा । आज आपके चरण-कमल-परागके स्मरणसे मेरा वह मिथ्याभिमान दूर हो गया । मैं प्रार्थना करता हूँ कि आप मुझे अपने चरण-कमलोंकी भक्ति प्रदान करें । आप परमस्वतन्त्र हैं । आद्या शक्ति हैं, सनातन परम-पुरुष, अकर्त्ता, निर्गुण, निरीह, अनुपाधि और अकल हैं । उनके मनोरञ्जनके लिये आप विशाल विश्वकी रचना करती हैं । वेदवाक्य कभी मिथ्या नहीं हो सकता । वेदोंमें कहा गया है कि 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म ।' वह ब्रह्म क्या आप हैं अथवा वह सनातन परमपुरुष हैं ? मेरा मन संशयाक्रान्त हो गया है । इस द्वित्व और एकत्वके विचारमें मेरा चित्त मग्न है । आपके मुखसे मैं शंकाका निराकरण चाहता हूँ । आप पुरुष हैं अथवा स्त्री ? यह मुझे स्पष्ट बतलायें, जिससे मैं आपके रहस्यको जानकर भवसागरसे मुक्त हो जाऊँ ?'

"ब्रह्माजीके प्रश्नोंको सुनकर देवीजी बोलीं—'मुझमें और सनातन पुरुषमें कोई भेद नहीं है । जो वे हैं, वह मैं हूँ, जो मैं हूँ, वह वे हैं । हम दोनोंमें सर्वथा अभेद है । हम दोनोंमें जो सूक्ष्म भेद है, उसे विद्वज्जन समझते हैं और वे संसारसे मुक्त हो जाते हैं । ब्रह्म एक है, वह नित्य और सनातन है । सृष्टि-कालमें वह द्वैतभावको प्राप्त होता है । जैसे दीप-ज्योति एक है, उपाधि-भेदसे अनेक हो जाती है, बिम्ब एक है, परंतु प्रतिबिम्बरूपमें अनेक प्रतीत होता है, वैसे ही हम दोनोंमें (ब्रह्म और शक्तिमें) भेद कल्पनातीत है । मैं न स्त्री हूँ न पुरुष और न नपुंसक । सृष्टिके समय हममें काल्पनिक भेद हो गया है । मैं बुद्धि, क्षुधा, पिपासा, वाञ्छा, शक्ति आदिके रूपमें सर्वव्यापक हूँ और सब प्राणियोंमें स्थित हूँ । संसारमें मुझसे रहित कुछ भी नहीं है । विभिन्न रूप और नाम धारणकर मैं विविध कार्य-कलाप निष्पन्न करता हूँ । गौरी, ब्राह्मी, रौद्री, वाराही, वैष्णवी, शिवा, वासवी आदि रूप धारण कर मैं समय-समयपर कार्य करती हूँ । जैसे जलमें शैत्य, वह्निमें औष्ण्य, दिवाकरमें ज्योति एवं चन्द्रमामें हिम है, वैसे ही मेरी शक्तिसे समस्त ब्रह्माण्डमें जीवन, स्पन्दन एवं क्रियाशीलता है । मुझसे त्यक्त हो जाने-पर सब निष्क्रिय एवं निष्प्राण हो जाते हैं । दुर्बल सत्त्वहीन जीवको सब 'अशक्त' कहते हैं । उन्हें कोई 'असद्' अथवा 'अविष्णु' नहीं कहता । मेरी शक्तिसे ही ब्रह्मा सृष्टि करते हैं,

विष्णु पालन करते हैं और रुद्र संहार करते हैं। सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, यमप्रभृति देव, इन्द्रादि दिक्पाल, शेष, पृथिवी, पर्वत आदि सब मेरी शक्तिसे ही अपने-अपने कार्योंको सम्पन्न करते हैं।'

"तत्पश्चात् श्रीदेवीने ब्रह्माजीको महत्तत्त्व, अहंकार-प्रभृति मूलतत्त्वों तथा जीवोंके विविध क्रिया-कलापोंके साथ लिङ्ग एवं कोशोंको देकर कहा—'आप रजोगुणयुक्त महासरस्वती नामक शक्तिको ग्रहण करें और उनकी सहायतासे जगत्की सृष्टि करें। श्वेताम्बर धारण करनेवाली, दिव्य आभूषणोंसे विभूषित वे देवी आपकी सदा सहचारिणी होंगी। आप इस विभूतिका कभी अपमान न करेंगे। लोकमें जब-जब महान् संकट आयेगा, विष्णुदेव विभिन्न रूपोंमें अवतीर्ण होकर लोककी रक्षा करेंगे और आप सब देव उनकी सहायता करेंगे। समय-समयपर मेरी शक्तियाँ उत्पन्न होकर जगत्की रक्षा करेंगी। आप मन्त्रराज नवार्णमन्त्रका जप करें और उसे हृदयमें रखें।'

"मुझसे यों कहकर जगन्माता श्रीदेवीने स्मितपूर्वक विष्णुभगवान्से कहा—'विष्णुदेव! आप इस मनोहरा महालक्ष्मीको ग्रहण करें। उनके सहयोगसे आप लक्ष्मीनारायणके रूपमें ब्रह्माण्डका पालन करेंगे। आप ब्रह्मा, शिव, समस्त देवगण तथा सम्पूर्ण जगत्के द्वारा पूज्य होंगे। जो मूर्ख देवताओंमें किसी प्रकारका भेद-भाव करेंगे, वे निश्चय ही नरकगामी होंगे। शिव, विष्णु और ब्रह्मामें कोई भेद नहीं है।'

"श्रीदेवीने विष्णुदेवसे पुनः कहा—'आप सत्त्वप्रधान श्रेष्ठ देव हैं। आप महालक्ष्मीके साथ वैकुण्ठमें सानन्द वास करें। बीजोंके साथ नवार्णमन्त्रका जप करें। आपको मृत्यु और कालका भय नहीं है। जबतक यह सृष्टि रहेगी, तबतक आप रहेंगे। जब मैं चराचर समस्त ब्रह्माण्डको अपनेमें लीन करूँगी, तब आप भी मुझमें लीन हो जायँगे।'

"श्रीदेवीने शंकरजीसे कहा—'शंकर! आप इन मनोहारिणी महाकालीको ग्रहण करें और कैलासमें अपना आवास बनाकर आनन्दसे रहें। आप तमोगुणप्रधान देव होंगे। इस जगत्में कोई भी निर्गुण वस्तु नहीं है। जो निर्गुण है, वह दृश्य नहीं है। निर्गुण केवल सनातन परम-पुरुष हैं। मैं निर्गुण और सगुण दोनों हूँ। शेष जगत् सगुण है।'

"अब आप त्रिदेव विमानपर आरूढ़ होकर यथास्थान चले जायँ। संकटके समय आपलोग मेरा स्मरण करेंगे, तब मैं तुरंत उपस्थित हो जाऊँगी और आपलोगोंकी सहायता करूँगी। आपलोग सनातन पुरुषके साथ-साथ सदा मेरा स्मरण करते रहेंगे।'

"श्रीदेवीने इन शब्दोंके साथ त्रिदेवोंको विमानसे विदा किया। स्थलान्तरमें जानेपर वे लोग पुरुषरूपमें परिणत हो गये। वहाँ न द्वीप रहा, न देवी रहीं और न सुधासिन्धु रहा। वह विमान उस स्थानपर पहुँचा, जहाँ समुद्र-ही-समुद्र दृष्टिगोचर हो रहा था। वहाँ वह पङ्कज था, जिससे ब्रह्माकी उत्पत्ति हुई थी और वह महार्णव था, जहाँ दुर्धर्ष मधु और कैटभ मारे गये थे।"

मुरलीकी तान

मुरलीकी मधुर तान मृदुल, कान्ह! सुना जा। व्रजभूमिमें, व्रजराज! तू बारेक फिर आ जा॥
ले करके लकुट गौओंको मधुवनमें चरा जा। मोहन मदन मुरारि! तू बछड़ोंको खिला जा॥
सँग लेके ग्वाल-बाल तू माखनको चुरा जा। दधि-दूध मटकी फोड़के जसुमतिको रिसा जा॥
जमुनाके तीर गोपियोंका रास रचा जा। सुंदर सलोने स्याम निज संगीत सुना जा॥
सद्ग्यान-भक्ति-कर्मकी तिरबेनि बहा जा। 'रट राधे राधे' गानसे जगको तू गुँजा जा॥
अर्जुनको गीता-ग्यान सुना जगको जगा जा। गोबिंद! भारतवर्षमें बारेक फिर आ जा॥

श्रीभगवतनारायण भार्गव

श्राद्धका वैज्ञानिक आधार

(लेखक—श्रीदेवेश्वरजी जोशी)

आजके युगमें मनुष्य प्रायः नास्तिक होता जा रहा है । उसे केवल शास्त्रीय प्रमाण देकर समझाना और उसकी नास्तिकताको आस्तिकतामें बदलना अब बड़ा ही कठिन हो गया है । संसारके महान् वैज्ञानिकोंने जिस सनातन धर्मकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की है, यहाँ उन्हीं वैज्ञानिकों तथा प्रातःस्मरणीय मुनियोंके शब्दोंमें श्राद्धकी बात बतानेका प्रयास किया जा रहा है ।

'दिवंगत आत्माएँ भी यहाँकी आत्माओंसे सम्बन्ध स्थापित कर सकती हैं ।' इस बातको स्वीकार करते हुए 'ओजः' शक्तिके आविष्कारक विक्टर ई० क्रोमर साहबने कहा है—

"We could get in touch with disembodied spirits. It is possible to direct a ray of vrillic power in a concentrated form. A little time spent in concentration on the name of a deceased individual would bring him or her into touch with us."

अर्थात् 'हमलोग शरीरसे वियुक्त आत्माओंसे सम्बन्ध स्थापित करनेमें सफल हो सकते हैं । मनःशक्तिको घनीभूत करके किसी एक दिशामें परिचालित करना सम्भव है । मृत व्यक्तिके नामपर थोड़ी देर ध्यान केन्द्रित करके उससे सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है ।'

वैज्ञानिक फ्लैमैरियनके अनुसार—

"Each of us possesses a fluid force, which I call psychic. This force survives us and when we are dead, we are able through its agency to communicate with the living."

"हममेंसे प्रत्येक व्यक्तिके भीतर एक सूक्ष्म अतीन्द्रिय शक्ति है, जिसे हम 'ओज' कहते हैं । यह शक्ति हमारी मृत्युके बाद भी वर्तमान रहती है और मृत्युके बाद भी हमारा इसके द्वारा इस लोकके जीवित व्यक्तियोंके साथ सम्पर्क स्थापित हो सकता है ।"

परलोकवादी सर आर्थर कोनन डायल साहब कहते हैं—

"As for myself I have not a doubt I have talked with several of my friends and relatives who have passed from this earthly world and I have seen, as clearly as in the life, the materiatization of my mother and my nephew. For me it is no question of opinion that we live after death. I know it and I know also that in making this discovery, we have made the greatest step forward in the history of the human race."

'जहाँतक मेरा सम्बन्ध है, मुझे तो इस विषयमें कतई संदेह नहीं है कि मैंने अपने अनेक मृत सम्बन्धियों तथा मित्रोंसे बात की है और मैंने अपनी माँ तथा भतीजेकी मृतात्माओंको उतने ही स्पष्टरूपमें मूर्त होते देखा है, जैसे उन्हें जीवित अवस्थामें देखता था । मेरे लिये यह एक निर्विवाद सत्य है कि मृत्युके बाद भी जीवन रहता है । मैं इस तथ्यको जानता हूँ और यह भी जानता हूँ कि इस तथ्यकी खोज करके हमने मानव-जातिके इतिहासमें सबसे बड़ी प्रगति की है ।'

विज्ञान कहता है, मनका स्वाभाविक मेल आत्मासे है । मनकी तरंगें बड़ी आसानीसे दूसरेके मनपर समान कम्पन उत्पन्न कर देती हैं । यह बात हम जड वाद्य-यन्त्रोंमें भी देखते हैं । यदि जडमें इतनी शक्ति है तो चेतन मनके विषयमें तो कोई संशय ही नहीं रहता ।

विक्टर डुबवा (Victor Dubois) ने कहा है—

"Mental suggestions are reproduced in the ether like wireless messages. They occasionally reach other minds and influence them, when the voice cannot be heard and the external organs fail to receive verbal suggestions from any

causes such as inattention, deafness or blindness. Distance is no barrier, if one soul is attuned to another. One need not be in the presence of a person to use suggestion in this way."

—'The Law of Suggestion'—Kalpaka

'बेतारके तारद्वारा भेजे हुए समाचारकी भाँति मानसिक प्रेरणाएँ आकाशीय मार्गद्वारा दूसरेके मनपर प्रभाव डालती हैं—उस समय भी, जब प्रभावित होनेवाले व्यक्तियोंकी बाह्येन्द्रियाँ बोलकर दी हुई प्रेरणाकी अनवधानता, बधिरता, अन्धता आदि कारणोंसे ग्रहण करनेमें भी असमर्थ होती हैं। यदि एक आत्माका दूसरी आत्माके साथ मेल रहे तो एक दूसरेके साथ सम्पर्क स्थापित करनेमें स्थानकी दूरी बाधक नहीं होती। अपने मनका भाव दूसरेतक पहुँचानेके लिये यह आवश्यक नहीं कि वे एक दूसरेकी संनिधिमें हों।'

'आत्मा वै जायते पुत्रः', 'आत्मा वै पुत्र नामासि' के अनुसार पुत्र पिताकी आत्मा-जैसा है। मनःशक्तिद्वारा पुत्र परलोकगत पिताकी आत्माका आवाहन करेगा, तभी परलोकस्थ आत्माको लाभ होगा। इसीलिये शास्त्रका यह विधान है कि पिता आदिका श्राद्ध करे।

महान् वैज्ञानिक सर आलिवर लॉजने मृतात्मासे सम्बन्धित प्रश्नके उत्तरमें कहा है—

"Mental force can make dead matter move as it directs and can also work upon the mental force of another, living or dead, and one mind can send thought-waves to another, no matter how many miles separate the two. And thus it is also possible that a mind without any material body, such as the surviving spirit of a dead person, can talk to the mind of a person who still has a living body."

'मानसिक शक्ति निर्जीव पदार्थको भी अपने इच्छानुसार परिचालित कर सकती है और उसी भाँति किसी अन्यकी मानसिक शक्तिको भी प्रभावित कर सकती है, चाहे वह व्यक्ति जीवित हो या मृत। एक मन दूसरेके प्रति विचार-तरंगोंको प्रेषित कर सकता है, चाहे वह व्यक्ति कोसों दूर हो और यह भी सम्भव है कि पार्थिव देहसे वियुक्त मन अर्थात् किसी मृत व्यक्तिकी आत्मा किसी जीवित व्यक्तिके मनसे बात करे। तात्पर्य, एक मृत व्यक्तिका मन एक जीवित व्यक्तिके मनके साथ सम्बन्ध-स्थापन तथा वार्तालाप कर सकता है।'

इसीलिये शास्त्र हमें श्राद्धमें निकटस्थ व्यक्तिके निमन्त्रणका ही आदेश देते हैं—

यस्त्वासन्नमतिक्रम्य ब्राह्मणं पतितादृते।
दूरस्थं भोजयेन्मूढो गुणाढ्यं नरकं व्रजेत्॥

'श्राद्धमें जो निकटस्थ ब्राह्मणको—यदि वह पतित न हो—छोड़कर दूरके श्रेष्ठ ब्राह्मणको निमन्त्रित करता है, वह नरकमें जाता है।'

राजर्षि मनुने भी कहा है—

कामं श्राद्धेऽर्चयेन्मित्रं नाभिरूपमपि त्वरिम्।
द्विषता हि हविर्भुक्तं भवति प्रेत्य निष्फलम्॥
निमन्त्रितांस्तु पितर उपतिष्ठन्ति तान् द्विजान्।
वायुवच्चानुगच्छन्ति तथाऽऽसीनानुपासते॥

(मनुस्मृति ३। १४४, १८९)

'श्राद्धमें मित्रको चाहे भोजन करा दे, किंतु शत्रु यदि विद्वान् भी हो तो भी श्राद्धमें उसे भोजन नहीं कराना चाहिये; क्योंकि शत्रुके साथ मानसिक मेल न होनेके कारण आत्माका कोई कल्याण नहीं होता। शत्रुके द्वारा खाया हुआ श्राद्धका अन्न निष्फल होता है अर्थात् परलोकगत आत्माको नहीं मिलता। परलोकगत आत्माएँ वायु-शरीर धारणकर निमन्त्रित ब्राह्मणोंका अनुगमन करती हैं तथा उनके बैठनेपर उनके पास बैठी रहती हैं।'

'चन्द्रमा मनसो जातः' के अनुसार मनका चन्द्रमासे प्राकृतिक सम्बन्ध है। इसी प्रकार मनः-समुद्रमें उत्पन्न तरंगें सुदूरस्थित पितृलोकतक पहुँचती हैं; क्योंकि समस्त व्यष्टि मन समष्टि मनके अंशरूप हैं।

'मन्त्राणां प्रणवः सेतुः' (प्रणव मन्त्रोंको दूरतक पहुँचानेमें पुलका काम करता है) के अनुसार प्रणवसहित दूसरे मन्त्रोंका उच्चारण करनेसे वे मन्त्र-चालित होकर परलोकतक श्राद्धके फलको पहुँचा देते हैं।

किसीके संदेहको स्थूल शब्दोंके द्वारा ही नष्ट किया जा

सकता है। स्थूल शब्दोंके प्रभावसे प्राणी (साँप, हरिण आदि) मारे अथवा पकड़े जाते हैं, शत्रुता मित्रतामें बदल जाती है। फिर सूक्ष्म, दिव्य असाधारण मन्त्रोंके प्रभावकी तो बात ही क्या है। श्राद्धमें मन्त्र-प्रयोग करनेका यही रहस्य है।'

मनु महाराजने भी कहा है—

स्वाध्यायं श्रावयेत् पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि।
आख्यानानीतिहासांश्च पुराणानि खिलानि च॥
(मनुस्मृति ३। २३२)

और भी—

ब्रह्मोद्याश्च कथाः कुर्यात् पितॄणामेतदीप्सितम्।

अर्थात् 'ब्राह्मणोंको भोजन कराते समय वेद, धर्मशास्त्र, इतिहास, पुराण, धार्मिक कथाएँ तथा वेद-पुराणोंके खिल भाग सुनाने चाहिये।'

'ब्राह्मण-भोजनके समय आध्यात्मिक आलाप प्रीतिदायक होता है।'

कठोपनिषद्में भी यही बात कही गयी है—

य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद् ब्रह्मसंसदि।
प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते॥
(१। ३। १७)

'जो पुरुष इस परम गोपनीय ग्रन्थको पवित्र होकर ब्राह्मणोंकी सभामें अथवा श्राद्धकालमें सुनाता है, उसका वह श्राद्ध अनन्त फल देनेवाला होता है।'

संसारके अंदर द्रव्यशक्ति भी प्रेत या पितरकी आत्माको सहायता देती है। कुश, तिल, जल, जौ आदिकी महिमा तो सर्वविदित है। ताम्र, रौप्य (चाँदी) आदि विद्युत्-चालक धातुओंकी भी प्रशंसा की गयी है।

राजतैर्भाजनैरेषामथो वा राजतान्वितैः।
वार्यपि श्रद्धया दत्तमक्षयायोपकल्पते॥
(मनुस्मृति ३। २०२)

'चाँदीके अथवा चाँदीसे युक्त ताम्रादि पात्रोंसे श्रद्धापूर्वक जल देनेपर भी पितरोंको अक्षय तृप्ति होती है।'

द्रव्यशक्ति तथा मन्त्रशक्तिके विषयमें वैज्ञानिकोंने कई अन्वेषण किये हैं। इस विषयमें आर्थिस ब्लैकबर्नका कहना है—

"Through the living force of the natural elementals associated with them, there are innumerable occult uses to which the seven metals may be put. Cures may be effected and diseases created by the use or misuse of metals, which possess at once life-giving or death-dealing qualities. Jewels are positive in force and have inherent qualities of their own. Metals, on the other hand, are more or less negative. Silver, particularly coming under the rulership of Iuna, is passive and therefore becomes a perfect medium for the transmission of influences with which it may be associated by chance or intentionally charged.

"Students of occultism can thus readily see how a water-element by natural sympathy may be attracted and attached to silver and by inherent antipathy made to repel the fire-element, depending upon the strength of the thought forms attached to the talisman.

Talismans, amulets, colors, numbers and harmonious name-vibrations are legitimate weapons of defence, forces of protection and power and are rendered well-nigh irresistible when reinforced by a life of rectitude and selflessness, devoted to the advancement of the race and attuned to the key-note of universal love."

—'The Alchemy of Precious Stones'
—Kalpaka.

'प्राकृतिक मूल तत्त्वोंकी जीवन्तशक्तिसे सम्बन्धित होनेके कारण इन सातों धातुओंसे अगणित अतीन्द्रिय प्रयोग घटित किये जा सकते हैं। जीवनदायक तथा जीवनहारी गुणोंसे एक साथ युक्त रहनेवाली इन धातुओंके सदुपयोगसे जहाँ रोग दूर किये जा सकते हैं, वहाँ उनके दुरुपयोगसे रोग उत्पन्न भी किये जा सकते हैं।

'रत्न शक्तिका धनरूप धारण करते हैं और अपनेमें निहित निजी गुणोंसे युक्त होते हैं। धातुओंमें अधिकतया शक्तिका ऋणरूप रहता है, विशेषतया चन्द्रमाके अधीन रहनेवाला रजत क्रियाका आधारमात्र है। अतः वह संयोग-वश किसी प्रभावमें आ जाय, अथवा कोई जान-बूझकर उसे प्रभावित कर दे तो वह उस प्रभावको संक्रमित करनेका सर्वाङ्गसुन्दर माध्यम बन जाता है।

'इस प्रकार अतीन्द्रिय विद्याके जिज्ञासु इस बातको अविलम्ब जान सकते हैं कि कैसे जलका एक अणु सहज सहधर्मिताके कारण रजताणुके प्रति आकर्षित एवं आसञ्जित हो सकता है और विपरीत धर्मके कारण अग्निके अणुओंको दूर हटा सकता है। इनके आकर्षित तथा दूरास्त करनेकी क्रिया तावीजसे संलग्न भावना-रूपकी शक्तिपर निर्भर करती है।

'तावीज, जंतर, वर्णविशेष, संख्याविशेष तथा नामोच्चारणसे उठनेवाली एकजातीय तरंगमाला आदि आत्मरक्षाके उपयुक्त साधन हैं। मानवजातिके उन्नयनमें रत सदाचारमय निःस्वार्थ तथा विश्वप्रेमकी भावनासे ओत-प्रोत हुए जीवनका बल पाकर इनका प्रभाव दुर्निवार बन जाता है।'

श्राद्धमें देश-काल-पात्रके अनुसार खाद्य पदार्थोंके बारेमें भी विचार किया गया है।

मनुस्मृतिमें लिखा है—

यत् किंचिन्मधुना मिश्रं प्रदद्यात्तु त्रयोदशीम्।
तदप्यक्षयमेव स्याद् वर्षासु च मघासु च॥
अपि नः स कुले जायाद् यो नो दद्यात् त्रयोदशीम्।
पायसं मधुसर्पिर्भ्यां प्राक्छाये कुञ्जरस्य च॥
(मनु० ३ । २७३-२७४)

'वर्षाऋतुमें मघानक्षत्रयुक्त त्रयोदशीको मधुमिश्रित कोई भी अन्न श्राद्धमें दिया जाय तो उससे पितरोंकी अक्षय तृप्ति होती है।' पितरलोग यह अभिलाषा करते हैं कि हमारे कुलमें ऐसा कोई उत्पन्न हो, जो हमें आश्विन कृष्णा त्रयोदशीको मधु एवं घृतसे युक्त खीरका भोजन कराये।'

इस प्रकार हमें प्रेतत्व-नाश तथा पितरोंकी तृप्ति और उन्नतिके लिये मनःशक्ति, मन्त्रशक्ति एवं द्रव्यशक्तिका विविध प्रकारसे प्रयोग करनेकी महिमा और रहस्य दृष्टि-गोचर होता है।

पुनर्जन्मको प्राप्त हुए पितरोंके विषयमें की गयी शङ्काएँ निम्न प्रमाणसे निर्मूल हो जाती हैं—

देवो यदि पिता जातः शुभकर्मानुयोगतः।
तस्यान्नममृतं भूत्वा देवत्वेऽप्यनुगच्छति॥
गान्धर्वे भोगरूपेण पशुत्वे च तृणं भवेत्।
श्राद्धान्नं वायुरूपेण नागत्वेऽप्यनुगच्छति॥
पानं भवति यक्षत्वे राक्षसत्वे तथाऽऽमिषम्।
दानवत्वे तथा मांसं प्रेतत्वे रुधिरोदकम्।
मानुषत्वेऽन्नपानादि नानाभोगरसो भवेत्॥
(मत्स्यपुराण १९६–९)

अर्थात् 'अपने शुभ कर्मानुसार श्राद्धकर्त्ताका पिता यदि देवयोनिको प्राप्त हो गया है तो उसका भाग अमृत होकर उसे देवयोनिमें प्राप्त होता है। इसी प्रकार गन्धर्व-योनिमें उसे तदनुसार भोगरूपमें, पशुयोनिमें तृणरूपमें, नागयोनिमें वायुरूपमें, यक्षयोनिमें पेयरूपमें, राक्षस तथा दानवयोनिमें मांसरूपमें, प्रेतयोनिमें रुधिर और मनुष्य-योनिमें उसे (पिता-पितामहादिको) अन्न-पानादि नाना भोग-रसोंके रूपमें प्राप्त होता है।'

अतः मानवमात्रको अपना परम पावन कर्त्तव्य समझकर, सभी शङ्काओंको निर्मूल कर तथा असंगठितता एवं अकर्मण्यताको तिलाञ्जलि दे श्रद्धाके साथ शास्त्रीय विधिसे श्राद्ध एवं नित्य तर्पण करना चाहिये। इसीमें लोकका, अपना तथा अपने सम्पर्कमें आये हुए दूसरोंका कल्याण निहित है।

'मनः शिवसंकल्पमस्तु'

(लेखक—श्रीराजेन्द्रप्रसादजी जैन)

आर्त—महाराज ! मैं दीन-दुखी, चिररोगी, कुलनाशी, सब ओरसे उपेक्षित, अपमानित और लाञ्छित हुआ फिरता हूँ। शान्तिकी खोजमें किधर चलूँ ?

महात्मा—'मनः शिवसंकल्पमस्तु'—हमारे मनके सभी संकल्प शुभ हों।

आर्त—उससे क्या होगा ?

महात्मा—वत्स ! तुम स्वप्न तो देखते होगे ?

आर्त—देखता हूँ; परंतु वे भी बड़े डरावने और खोटे होते हैं। मुझे स्वप्नमें भी शान्ति नहीं मिलती।

महात्मा—यह तो तुम जानते ही हो कि स्वप्नोंको कोई बाह्य शक्ति हमपर नहीं थोपती। हमारे संकल्प-विकल्प ही हमारे स्वप्न-जगत्‌की सृष्टि करते हैं। यदि हमारे संकल्प-विकल्प सात्त्विक और सुन्दर होंगे तो हमें सुखद स्वप्न दिखायी देंगे और यदि तामसिक एवं घिनौने होंगे तो दुःखद स्वप्न दिखायी देंगे। अतः 'मनः शिवसंकल्पमस्तु।'

आर्त—अच्छा, मान लिया—हमें सुन्दर स्वप्न दिखायी देने लगें, तो इससे हमारा क्या प्रयोजन सिद्ध होता है ?

महात्मा—होता क्यों नहीं। २४घंटोंमें हम लगभग दो घंटे स्वप्न देखते हैं, अर्थात् स्वप्न हमारे जीवनका बारहवाँ अंश है। यह क्या कोई कम महत्त्वकी बात है कि अपने जीवनके १२वें भागको सुखी या दुखी करना हमारे और केवल हमारे हाथमें है ! और फिर जिस प्रकार जाग्रत्-अवस्थाका प्रभाव स्वप्न-जगत्‌पर पड़ता है, उसी प्रकार स्वप्न-जगत्‌का प्रभाव जाग्रत्‌पर भी पड़ता है। तुमने स्वयं अनुभव किया होगा कि अच्छे या बुरे स्वप्नोंके टूट जानेपर भी कुछ समयतक मनपर उनका प्रभाव बना रहता है। जीवन जलधाराकी भाँति एक है। जैसे जलकी धारामें कहीं कोई रंग छोड़ो तो उसका प्रभाव धीरे-धीरे सारे जलमें फैल जाता है, उसी प्रकार जीवनमें जो सुख-दुःख आते हैं, वे केवल उसी समय सुख-दुःख नहीं देते, उनका प्रभाव धीरे-धीरे सारे जीवनमें घुल-मिल जाता है। इसी प्रकार स्वप्नके सुख-दुःख केवल स्वप्न-जगत्‌तक ही सीमित नहीं रहते। अतः 'मनः शिवसंकल्पमस्तु।'

आर्त—अच्छा यही सही; परंतु जीवनके बारहवें भागको सुखद बनानेके चक्करमें क्या शेष ग्यारह भागोंकी कुछ भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये ? क्या दुखी जाग्रत् जीवन अपने स्वप्न-जगत्‌को भी आच्छादित करनेका प्रयत्न नहीं करेगा; क्योंकि जैसा आप स्वयं कहते हैं, जीवन एक अविभाज्य धारा है ?

महात्मा—जिस प्रकार स्वप्न-जगत् हमारे संकल्प-विकल्पोंका परिणाम है, उसी प्रकार यह जाग्रत् संसार भी हमारे ही संकल्प-विकल्पोंका परिणाम है।

आर्त—तो क्या आप यह कहना चाहते हैं कि इस दृश्यमान जगत्‌का भी कोई अस्तित्व नहीं है; स्वप्नकी भाँति यह भी कोरा भ्रम, कोरी माया है ?

महात्मा—नहीं, मेरा अभिप्राय ऐसा नहीं है। तुमने बात पूरी नहीं होने दी। यदि हम यह मान लें कि स्वप्नकी भाँति इस दृश्यमान जगत्‌का भी कोई अस्तित्व नहीं तो फिर हमारा भी कोई अस्तित्व नहीं ठहरता। जिस प्रकार हम द्रष्टा हैं और सारा संसार—हमारे माता-पिता, भाई-बहिन आदि हमारे लिये दृश्यमान हैं, उसी प्रकार हमारे माता-पिता आदि जब द्रष्टा होते हैं, तब हम उनके लिये दृश्य बन जाते हैं और इस प्रकार संसारका अस्तित्व स्वीकार न करनेपर तो हम स्वयं अपने अस्तित्वको अस्वीकार करते हैं और प्रकारान्तरसे शून्यवादके गर्तमें गिर जाते हैं।

आर्त—शून्यवादसे इतनी घबराहट क्यों ?

महात्मा—क्योंकि वह किसी प्रकारका पथ-प्रदर्शन नहीं करता। संसार है ही नहीं, यह मानकर कोई चल नहीं सकता। हमारा प्रत्येक व्यवहार यही मानकर है कि संसार है, हम हैं। स्वयं बड़े-से-बड़े शून्यवादीका एक भी आचरण ऐसा नहीं होता, जिसकी संगति उसके सिद्धान्तसे बैठती हो। बैठ ही नहीं सकती। जो नितान्त अव्यावहारिक है, जिसे आचरणमें कोई भी न उतार सके, उतारनेकी दिशातकमें एक पग नहीं चल सके, वह सत्य नहीं हो सकता।

आर्त—फिर संसारको स्वप्न क्यों कहा जाता है ?

महात्मा—केवल एक अपेक्षासे। द्रष्टा, दृश्यमान जगत् और इन दोनोंके बीचका सम्बन्ध—ये तीन तत्त्व हुए। स्वप्न

और संसार—दोनोंमें द्रष्टा सत्य है और दोनोंमें ही द्रष्टा एवं दृश्यमानके बीचका सम्बन्ध केवल द्रष्टाके संकल्प-विकल्पका परिणाम है। यही दोनोंमें समानता है। परंतु दृश्यमान जगत् केवल स्वप्नमें ही भ्रम है, जाग्रत्में वह सत्य है। (इतना दोनोंमें अन्तर है।) स्वप्न और संसारमें यदि कोई अन्तर न होता तो फिर इनकी पृथक् संज्ञा क्यों होती ? स्वप्नमें अनुभव किये सुख-दुःख इतने तीव्र नहीं होते, जितने जाग्रत्-अवस्थामें। एक रात्रिके स्वप्नका दूसरी रात्रिके स्वप्नसे कोई सम्बन्ध नहीं होता, जब कि जाग्रत् अवस्थामें जो कुछ होता है, उसका न केवल कलकी, अपितु लाखों वर्ष पुरानी घटनाओंसे भी तर्कसंगत और क्रमबद्ध सम्बन्ध होता है,—यहाँतक कि प्रत्येक व्यक्ति पिछली घटनाओंको देखकर ऐसा अनुमान लगा लेता है कि कल क्या होगा। परंतु ऐसी भविष्यवाणी आजतक किसीने नहीं की कि अमुक व्यक्ति आज क्या स्वप्न देखेगा। फिर स्वप्न सभी व्यक्तियोंके अलग-अलग होते हैं, जब कि जगत् सभीको एक-सा दिखायी देता है। अतः यह जगत् न तो हमारे मनका भ्रम है, न माया। यदि किसी रात्रिको ४-५ व्यक्ति भी एक-सा ही स्वप्न देखें तो चारों ओर भय एवं त्रास फैल जाता है कि यह स्वप्न नहीं, किसी देवताकी प्रेरणा है। तब फिर बताओ, जब करोड़ों मानव इस दृश्यमान जगत्को नित्यप्रति एक-सा ही देखते हैं, तब यदि यह स्वप्न भी है तो है बड़ा विचित्र। कम-से-कम वैसा स्वप्न तो है ही नहीं, जैसा कि हम निद्रामें देखा करते हैं।

आर्त—मेरी शान्तिका मार्ग।

महात्मा—'मनः शिवसंकल्पमस्तु।' संसार सत्य है; परंतु हम संसारके किन-किन जड-चेतनकी ओर आकर्षित होंगे, कौन-कौनसे जड-चेतन हमारी ओर खिंचेंगे, हमारा उन सबसे क्या सम्बन्ध होगा, उन सबका हमसे क्या सम्बन्ध होगा, हमारा सम्पर्क किन-किन जड, चेतन एवं परिस्थितियोंसे होगा—यह केवल हमारे और हमारे संकल्प-विकल्पपर निर्भर है। एक प्रकारसे हम कह सकते हैं कि संसार सत्य है, परंतु हमारा अपना संसार केवल हमारे संकल्प-विकल्पोंकी प्रतिमूर्ति है। हमें अपने संकल्प-विकल्पोंके अनुसार ही माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई-बहिन, स्त्री-पति, परिजन, शत्रु-मित्र, राजा-प्रजा, दास-स्वामी, व्यापारी-ग्राहक, ग्राम-गली, देश-राष्ट्र, धन-सम्पत्ति, वैभव आदि प्राप्त होते हैं। हमारा अपना शरीर भी हमारे ही संकल्प-विकल्पोंका परिणाम है। कोई बाह्य शक्ति उन्हें हमपर नहीं थोपती। अतः 'मनः शिवसंकल्पमस्तु।'

आर्त—परंतु भगवन्! हमने तो सुना है—यह सब पूर्वजन्मके कर्मोंके अनुसार प्राप्त होता है।

महात्मा—पूर्वजन्मके कर्म कोई अचिन्तनीय तत्त्व नहीं हैं। पूर्वजन्मके कर्मोंके अनुसार ही हमारे संस्कार, हमारे संकल्प-विकल्प, हमारे चेतन-अर्द्धचेतन और अचेतन मनका निर्माण होता है। यदि आप किसी व्यक्तिके संस्कार, संकल्प-विकल्प और चेतन, अर्द्धचेतन एवं अचेतन मनका ठीक-ठीक अध्ययन कर सकें तो आप विश्वासपूर्वक उसके पूर्वजन्मोंका ठीक-ठीक वर्णन कर सकते हैं। पूर्वकालमें मुनि लोगोंके पूर्वजन्मोंका वृत्तान्त इसी आधारपर बतला देते थे।

आर्त—आजकल कुछ पाश्चात्त्य मनोवैज्ञानिक इसी आधारपर पूर्व पीढ़ियोंको बतलानेका प्रयत्न करते हैं। वे पूर्वजन्मको नहीं मानते।

महात्मा—पूर्वजन्म और पूर्वपीढ़ियोंमें कोई असंगति नहीं है। अपने पूर्वजन्मके कर्मानुसार ही जीवको कुल प्राप्त होता है। इस विषयमें गीता भी प्रमाण है (अध्याय ६, श्लोक ४०–४६)। हम पीढ़ी और पूर्वजन्म—दोनोंको स्वीकार करते हैं। केवल पीढ़ीको स्वीकार करना और पूर्वजन्मको अस्वीकार करना हमें जडवाद और परवशताकी ओर ले जाता है। शुष्क पीढ़ीवाद कहता है कि तुम्हारा जन्म तुम्हारे हाथमें नहीं था। जन्मसे पूर्व तुम थे ही नहीं,—उसी प्रकार, जैसे मृत्युके पश्चात् तुम नहीं रहोगे। यदि जन्मसे पूर्व हम नहीं थे, यदि हमारा जन्म हमारे हाथमें नहीं था तो फिर हमारे हाथमें है क्या ? मनुष्यके ९० प्रतिशत सुख-दुःख, उसकी ९० प्रतिशत जीवनधारा उसके जन्मके बन्धनमें बँधकर चलती है। हम चेतन हैं, स्वयं भगवान् हैं या भगवान्के अंश हैं। हम परवश नहीं हैं।

आर्त—पूर्वजन्म मान लेनेपर भी जन्मकी परवशता तो रहेगी ही।

महात्मा—'मनके हारे हार है, मनके जीते जीत।' पीढ़ीवाद यह मानकर चलता है कि हमारा यह कुल, यह देश, यह जाति, यह शरीर, यह मन और उसके संस्कार, जो हमें

मिले हैं—यह सब एक ऐसी परवशता है, जिसे ओढ़नेके लिये हम विवश थे। दूसरी ओर यह विश्वास है कि यह सब भी हमारे ही अपने अधिकारकी बात थी। इन दोनोंका मनोवैज्ञानिक अन्तर क्या आपकी समझमें नहीं आ रहा है ?

आर्त—अच्छा, मेरे दो प्रश्नोंका आप और उत्तर देनेकी कृपा करें। आपने कहा कि पूर्वकर्मोंके अनुसार ही संकल्प-विकल्प उठते हैं तो फिर हमारे संकल्प-विकल्प यदि विद्रूप हैं तो हम क्या कर सकते हैं ? अपने मनको सुन्दर बनानेके लिये हम क्या करें ? दूसरा प्रश्न फिर करूँगा। पहले इसका उत्तर देनेकी कृपा करें।

महात्मा—पूर्वजन्म, यह जन्म और अगले जन्म—यह सब एक अखण्ड जीवनधारा है। पूर्वकर्मोंके अनुसार संकल्प-विकल्प उठते हैं और संकल्प-विकल्पोंके अनुसार कर्म होते हैं। ये दोनों अन्योन्याश्रित हैं, एक दूसरेपर आश्रित हैं। यह एक चक्र है, कहीं भी इसे तोड़ा जा सकता है। प्राणीको कुछ-न-कुछ स्वतन्त्रता तो प्रत्येक समय रहती ही है। यदि यह स्वतन्त्रता न हो तो सारे उपदेश, दण्डविधान—यहाँतक कि नास्तिकों एवं भौतिकवादियोंके भी उपदेश—सब निष्फल हैं। जब कर्मकी स्वतन्त्रता नहीं तो कुछ भी कहने-सुननेकी आवश्यकता नहीं। जिस प्रकार शून्यवादके अनुसार कोई एक पग भी नहीं चल सकता, इसी प्रकार यह मानकर भी कोई नहीं चल सकता कि जीव कर्म करनेमें पूर्णतया परतन्त्र है। संसारके सारे व्यवहार यही मानकर चलते हैं कि हम हैं; संसार है और कुछ-न-कुछ कर्म करनेकी हमें स्वतन्त्रता है। इस चक्रको तोड़नेके लिये मनको सुन्दर बनाना सबसे सरल है; क्योंकि उसके लिये केवल अपनी साधना चाहिये, किसी बाह्य साधनकी आवश्यकता नहीं। अतः 'मनः शिवसंकल्पमस्तु।'

आर्त—तो फिर मनको सुन्दर कैसे बनाया जाय ?

महात्मा—इसके साधन हैं—भगवान्का भजन-कीर्तन, पूजन-जप, सत्-शास्त्रोंका स्वाध्याय, महात्माओंका सत्सङ्ग, निष्काम सेवा, कर्तव्यपालन, प्रकृतिसे सम्पर्क, यथाशक्ति दान और सर्वोपरि यह अटल विश्वास कि अपने सारे कष्ट-विपत्तियोंके कारण हम केवल हम हैं। कोई बाह्य प्रकृति एवं परिस्थिति नहीं है। वे तो केवल निमित्तमात्र हैं। जैसे हम हैं, वैसे ही प्राणी, प्रकृति एवं परिस्थिति हमें सुख-दुःख देनेके लिये हमारी ओर खिंची चली आती है—ठीक वैसे ही, जैसे गुड़ मक्खीको खींच लेता है और यह विश्वास कि हमें जो सुख-वैभव प्राप्त है, वह तभीतक है, जबतक हमारा मन उन्हें अपनी ओर खींचनेवाला है और जिस दिन वे नष्ट हो जायँगे, किसी भी बलप्रयोग, धूर्तता अथवा चाटुकारितासे वे हमारे पास नहीं रहेंगे।

आर्त—मेरा मन सुन्दर बने या न बने, यह विश्वास ही मुझे परम शान्ति देनेवाला है; परंतु क्या ऐसा है ?

महात्मा—ऐसा ही है—विश्वास करो, ऐसा ही है। मेरे सौभाग्यकी कुंजी मेरे ही हाथमें है।

आर्त—'मनः शिवसंकल्पमस्तु।'

महात्मा—'मनः शिवसंकल्पमस्तु।'

आर्त—अब मुझे किसीका भय नहीं है। कोई मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकता, जबतक मेरा मन स्वयं उसके लिये भूमि तैयार नहीं करता।

महात्मा—'मनः शिवसंकल्पमस्तु।'

आर्त—अब मुझे किसीकी चाटुकारिता नहीं करनी है। कोई मुझे कुछ नहीं दे सकता, जबतक मेरा मन उसके लिये भूमि तैयार नहीं करता।

महात्मा—और जब तैयारी हो जायगी, तब उसे कोई रोक नहीं सकता।

अतः 'मनः शिवसंकल्पमस्तु।'

आर्त—'मनः शिवसंकल्पमस्तु,' 'मनः शिवसंकल्पमस्तु', 'मनः शिवसंकल्पमस्तु।'

पुरारि

(लेखक—श्रीसुदर्शनसिंहजी)

महामायावी दानवेन्द्र मयके तीन पुत्र थे—विद्युन्माली, विद्युजिह्व, विद्युच्छत्रु । मयने तीन वैमानिक नगरोंका निर्माण किया । एक नगर स्वर्णका, एक रजतका और एक लौहका । अपने तीनों पुत्रोंको उसने क्रमशः एक-एक नगर दे दिया ।

मयके पुत्र इन नगरोंमें दानवोंके साथ रहने लगे । स्वयं मय भी इनमें रहता था । ये लोग रहते भी तो बात क्या थी; किंतु ये तो सृष्टिमें महानाश करते घूमते थे ।

मयके तीनों नगर वैमानिक नगर थे । ये पृथ्वीपर, गिरिशिखरपर, जलमें—कहीं भी उतर सकते थे । सीधे ऊपर उड़ सकते थे । इनकी गति अकल्पनीय तीव्र थी । ये चाहे जब और चाहे जितनी देरको अदृश्य रह सकते थे ।

सबसे बड़ी विशेषता इन नगरोंमें यह थी कि ये अभेद्य थे । किसी भी अस्त्र-शस्त्रसे इन्हें तोड़ा-फोड़ा नहीं जा सकता था । ये तीनों नगर जब पृथक्-पृथक् रहते थे, इन्हें नष्ट करनेका कोई उपाय नहीं था । एक सहस्र वर्षोंमें केवल एक बार एक मुहूर्तको ये परस्पर मिलते थे । उसी समय इनको नष्ट करना सम्भव था ।

मयको इतनेसे संतोष नहीं हुआ । उन महायोगीने सिद्धरसका एक कूप इन पुरोंमें निर्मित किया था । कभी कोई दुर्घटना हो ही जाती—घायल अथवा मृत किसी व्यक्तिको उस कूपके रसमें डुबा दिया जाता तो तत्काल वह स्वस्थ, सबल, सजीव होकर उठ खड़ा होता ।

मृत्युका, रोग या आघातका तथा वैभवके नाशका भय नहीं रहा तो स्वभावसे उद्दण्ड एवं क्रूर दानव सर्वथा लोक-संतापक हो गये । वे अपने किसी नगरको कहीं किसी ग्राम, नगर, तपोवनपर उतार देते । शत-शत प्राणियोंको पीस डालते । अपने नगरोंके धक्केसे रम्य पर्वत, आश्रम ही नहीं, स्वर्गके देवोद्यान भी वे नष्ट करने लगे । वे नदियोंका प्रवाह अपने नगरके द्वारा रोक देते और जब बहुत जल एकत्र हो जाता, अपना नगर हटा देते । तटके ग्राम-नगर इस प्रकार सहसा बाढ़से बह जाया करते थे ।

प्राणियोंका क्रन्दन, आहतोंकी करुण पुकार, लाख-लाख लोगोंका मरण उन क्रूरोंके विनोदका साधन बन गया ।

पृथ्वीके प्राणी—मनुष्य ही नहीं, ऊपरके लोकोंके देवता, गन्धर्व, ऋषि-मुनि,—सब रात-दिन संत्रस्त रहने लगे । कब कहाँ त्रिपुर प्रलय उपस्थित कर देंगे—कुछ ठीक नहीं था । त्रिभुवन भय, आशङ्का, त्रासका नारकीय क्षेत्र बन गया ।

देवता भगवान् पिनाकपाणिकी शरणमें गये । आशुतोष प्रसन्न हुए । उन्होंने धनुष चढ़ाया, उनका संकल्प ही बाण बन गया । त्रिपुरपर सूर्यमण्डलसे शर-वर्षा होने लगी । सहस्र-सहस्र दानव मरने लगे । दानवेन्द्र मय उठे । उन्होंने तत्काल आहत एवं मृत दानवोंको कूप-रसमें डालनेकी व्यवस्था की । अब जो रसमें पड़ा, वह आधे क्षणमें पहलेसे सबल, स्वस्थ ही नहीं, पहलेसे अधिक उद्धत होकर युद्धके लिये तत्पर दीखने लगा ।

'भाई, ! यहाँ आघात तो व्यर्थ है !' शंकरजीने हँसकर धनुष रख दिया ।

'तब क्या इन दानवोंको आप ऐसे ही अभय दे रहे हैं ?' देवता व्याकुल हो गये ।

'नहीं' भगवान् विष्णु उठ खड़े हुए । 'कुछ कौशल अपेक्षित है यहाँ ।'

'वीरभद्र ! तुम मयसे कहो कि त्रिपुर बच नहीं सकता । श्रीहरिकी इच्छाका उल्लङ्घन नहीं किया जा सकता । वे अब अकेले पाताल चले जायँ ।' सच यह है कि दयाधाम शशाङ्कशेखरका ममत्व है दानवेन्द्र मयपर । बड़े प्रिय भक्त हैं वे औढरदानीके । उनकी उपस्थिति ही त्रिपुरकी रक्षामें अबतक हेतु थी । प्रभुने अब वीरभद्रको भेज दिया मयके समीप ।

इधर भगवान् विष्णुने गौका रूप धारण किया और ब्रह्माजीको बछड़ा बनाया । इस रूपमें पहुँचे त्रिपुरमें और सीधे सिद्धरसामृतसे भरे कूपपर चले गये । जैसे बहुत प्यासी गाय दौड़ी आयी हो, कूपके रसमें मुख लगा दिया उन्होंने ।

कूप-रसके रक्षक थे वहाँ । इतनी सुन्दर—इतनी आकर्षक गाय उन्होंने, भला, काहेको देखी थी । ऐसा बछड़ा ही कहाँ त्रिभुवनमें । वे रोकते, इससे पूर्व तो गाय-बछड़े रस पीने लगे थे ।

'जल पीती गौको मारना भारी पाप है।' दानवोंमें धर्मबुद्धि जाग्रत् हो गयी। 'पी लेने दो। बहुत प्यासे हैं दोनों। पी ही कितना लेंगे।'

दानव देखते रह गये और कूपमें तो एक बूँद भी रस नहीं बचा। गायने पिया ही नहीं, उसे चाटकर स्वच्छ कर दिया और तब वह अद्भुत गाय अपने बछड़ेके साथ अदृश्य हो गयी। अब रक्षक चौंके; किंतु अब होना क्या था?

दानवेन्द्र मयको कूप-रसके गौद्वारा पी लिये जानेका समाचार मिला। लगभग उसी समय वीरभद्रने आकर भगवान् शिवका आदेश सुनाया। स्थितप्रज्ञ, प्रशान्त, गम्भीर दानवेन्द्र उठ खड़े हुए। उन्होंने वीरभद्रको प्रणिपात किया—'जैसी आराध्यकी इच्छा'।

ममता, मोह, भय, शोक—कहीं कुछ नहीं। दानवेन्द्रने अपना आराध्य मणिमय शिवलिङ्गमात्र साथ लिया और पाताल चले गये।

इस बार प्रलयंकरने देवताओंके द्वारा रथके उपकरण प्रस्तुत किये। धर्म काल आदि ही नहीं, श्रीहरितक शरके अङ्ग बने और अब यह आघात त्रिपुर कैसे सह लेता। तीनों पुरोंके मिलनेका समय आ गया था। वे मिले और उसी समय उनपर महारुद्रका प्रहार हुआ। तीनों पुर जलते हुए गिरे।

कहा जाता है कि अमरकण्टकपर्वतपर रेवा-उद्गमसे थोड़ी दूरपर दानवोंके तीनों पुर जलते हुए गिरे थे। उस महाज्वालासे गिरिपृष्ठ फटा और वहाँसे एक सरिता प्रकट हो गयी। उस सरिताका नाम 'ज्वाला' पड़ा। वह अब भी प्रवाहित होती है।

समष्टिमें—सृष्टिकी समष्टिमें और कालकी समष्टिमें यह घटना कभी हुई थी। ज्वाला नदी उस इतिहासकी प्रतीक है; किंतु जीवनमें—व्यष्टिमें यह घटना जो समष्टिमें इतिहास नहीं हुआ? वह व्यष्टिमें अध्यात्म नहीं बन सकता—इसे मत भूलिये। जो समष्टिमें सत्य है, व्यष्टिका सत्य भी वही है। व्यष्टिके लिये इस कथामें कोई संदेश न होता तो पुराण इसका वर्णन क्यों करते? पुराणकारको कोई घटना—केवल इतिहासके लिये घटनोल्लेखका व्यसन नहीं है। मानव-जीवनके दुर्लभ क्षण व्यर्थकी—हेतुहीन घटनाओंकी कहानी पढ़-सुनकर प्रमादपूर्ण मनोरञ्जनमें नष्ट करनेको नहीं हैं। तब इस घटनाका हमारे लिये संदेश?

मायाके तीन पुर हैं—कञ्चन, कामिनी, काया। अपने तीन पुत्र लोभ, काम, क्रोधको इसने ये पुर दे रखे हैं। ये तीनों पुर सृष्टिमें विनाश ही करते हैं।

कञ्चन—लोभ दूसरोंका शोषण—स्वत्वहरण करके संतुष्ट होता है।

कामिनी—कामने कितना विनाश किया है विश्वमें—इतिहास उठाकर देखनेकी आवश्यकता नहीं है। सम्पूर्ण अनर्थोंकी जड़ कामना है और अपनी कामनाके पीछे अंधा व्यक्ति दूसरोंकी हानि नहीं देख पाता—यह आप जानते हैं।

काया—क्रोधके ही अनुगत हैं मोह-ममतादि। इस काया तथा कायासे सम्बन्धित लोगोंको—नाम-गुण आदिको लेकर ही आपके द्वारा सब पाप होते हैं।

ये लोभ, क्रोध, काम तथा इनके अनुगत सब दोष कहीं साधन-भजन-सत्सङ्गसे दुर्बल भी हो जायँ तो इन्हें सबल करनेवाला रसकूप है कायामें। इन्द्रिय-सुखमें आसक्ति—यह रसासक्ति इनको पुनः सजीव ही नहीं करती, इन्हें सशक्त भी बना देती है।

भगवान् शिवकी शरण लें सात्त्विक वृत्तियाँ, तो भी काम नहीं बनता। कल्याणका सब प्रयत्न इन्द्रिय-रसासक्ति निष्फल कर देती है। यह रसासक्ति मिटे तो दानवपुर नष्ट हों।

भगवान् श्रीहरि गौ बनें। वे गोपाल इन्द्रियोंके द्वारा आराधित हों, उनका रूप-माधुर्य मुग्ध करे इन्द्रियोंको, तब यह रस—विषय-रस सूखे। वे ही इसे पी जायँ—उनके चरणोंकी प्रीति आये, तब यह समाप्त हो।

इन्द्रियासक्ति—विषयासक्ति मिट गयी तो काम समाप्त हो गया?

सुविधा हो गयी—मात्र इतना ही। यहीं कहीं संतुष्ट हो गये तो—मयको समय मिलेगा और वह पुनः कूपको सिद्धरसामृतसे भर देगा।

'तरङ्गायिता अपि इमे सङ्गात्समुद्रायन्ति।'

(नारदभक्ति-सूत्र)

'ये अत्यन्त लघु—सत्त्वहीन प्राय होनेपर भी अनुकूल सङ्ग पाकर समुद्र बन जाती हैं।

मय नहीं मरेगा। माया वस्तुतः प्रभुकी शक्ति है। उनका विनाश नहीं होता—आवश्यक भी नहीं है।

त्रिपुर-नाशके लिये आवश्यक है कि मयको वहाँसे हटा दिया जाय। यह काम प्रभु स्वयं करेंगे, दूसरा इसे कर नहीं सकता; किंतु वे करेंगे—करते ही हैं।

'प्रभु सेवकहि न ब्याप अबिद्या।'

दूसरी आवश्यकता है कि ये तीनों पुर परस्पर मिलें। काम, लोभ, क्रोधकी वृत्तियोंका एकीकरण कब होगा? जब ये प्रबुद्ध न होकर सुषुप्त होंगी।

आप चाहें तो जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिको मयके तीन पुर मान सकते हैं। इन अवस्थाओंका संधिकाल-योगमें अवस्थातीत स्थितिकी प्राप्तिके लिये प्रशस्त माना गया है। इस संधिकालमें बोधवृत्तिका उदय हो तो वे ज्ञानरूप शिव त्रिपुरका—त्रिगुणात्मिका मायाके प्रपञ्चका विनाश करेंगे।

भगवदनुरागने विषय-रसको शुष्क कर दिया हो और भगवदनुग्रहसे अन्तःकरण उनके श्रीचरणोंकी ओर उन्मुख हो। काम-क्रोध-लोभकी वृत्तियाँ शान्त हों—उदितावस्थामें न हों, इस अवस्थामें साधकके प्राणोंमें भगवत्प्राप्तिकी जो प्यास है, वह जागती है और वही समस्त सात्त्विक वृत्तियोंका सहयोग स्वतः प्राप्त कर लेती है।

जीवनमें त्रिपुरके नाशकी जो अनुभूति है, उसे वाणी व्यक्त नहीं कर सकती। आप उसे भगवत्साक्षात्कार कहें, अपरोक्षानुभव कहें अथवा निर्विकल्पावस्था कहें—शब्दोंमें उसे व्यक्त करनेकी सामर्थ्य नहीं है।

इसके पश्चात्? इसके पश्चात् जीवनमें केवल रसधारा शेष रहती है। आप उसका नाम भले ज्वाला रख लें, वह तो सरिता है। संसारके प्यासे प्राणियोंको उससे तृषाशान्ति और शीतलता प्राप्त होती है।

भगवान्के—आराध्यके दो रूप होते हैं—ध्येय रूप और चिन्त्य रूप। शिवरूप—रुद्ररूप भी ध्येय रूप है, किंतु त्रिपुरारिरूप चिन्त्यरूप है। वस्तुतः त्रिपुरारि रूप नहीं है। यह एक नाम है, जो एक लीला-विशेषका सूचक है और वह लीला साधकको बहुत कुछ बतलाती है।

मायाके आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक पुर अर्थात् स्थूलसृष्टि, दैविक सूक्ष्मसृष्टि और मानसिक-सृष्टि—स्थूलदेह, सूक्ष्मदेह, कारणदेह—ये सब ताप ही तो देते हैं। इन त्रिविध तापोंसे, इन त्रिविध देहके क्लेशोंसे संतप्त प्राणीके निस्तारका मार्ग है—त्रिपुरारिकी शरण। पुरारि ही इन पुरोंको भस्म करनेमें समर्थ हैं।

वर्णाश्रमकी ऐतिहासिकता

(लेखक—डा० श्रीनीरजाकान्त चौधुरी, देवशर्मा एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, पी-एच्० डी०)

[गताङ्क पृष्ठ ११२१से आगे]

३—क्षत्राद्घः। (४। १। १३८)

भाष्य—क्षत्रस्य अपत्यं क्षत्रियजातिः। अन्यथा क्षात्रिः। क्षत्र घः क्षत्रियः।

अर्थ—'क्षत्र' शब्दसे 'घ' प्रत्यय होता है; तब अपत्यार्थमें 'क्षत्रिय' शब्द निष्पन्न होता है। यह जातिवाचक है। क्षत्रिय-जाति न होनेपर क्षत्र+इञ्=‘क्षात्रि’ पद बनता है, क्षत्रिय नहीं बनता। 'क्षात्रि' का अर्थ है—क्षत्रिय पिता, किंतु वैश्या अथवा शूद्रा माताके गर्भसे उत्पन्न संतान। पिता-माता दोनोंके ही क्षत्रिय-वर्ण होनेपर 'क्षत्रिय' शब्द बनेगा।

'ब्रह्म' और 'ब्राह्मण' जिस प्रकार समानार्थक हैं, उसी प्रकार 'राजन्' और 'राजन्य' तथा 'क्षत्र' और 'क्षत्रिय' शब्द भी समानार्थक हैं। वेदसंहिता, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषदोंमें—ये शब्द क्रमशः जन्मद्वारा ब्राह्मण और क्षत्रिय-जातिके अर्थमें ही व्यवहृत हुए हैं।

'जन्मना जातिः'

ऊपर लिखे हुए पाणिनिके सूत्रसे स्पष्ट प्रकट होता है कि 'ब्राह्मण', 'राजन्य' एवं 'क्षत्रिय' शब्द उन्हींके समानार्थक 'ब्रह्मन्', 'राजन्' तथा 'क्षत्र' पदोंसे अपत्यवाची तद्धित प्रत्यय जोड़नेपर बनते हैं। ये ही शब्द वंशानुक्रमिक जातिके वाचक हैं।

अतएव पाणिनि-व्याकरणके मतसे भी ब्राह्मण पिता-मातासे उत्पन्न अपत्य 'ब्राह्मण' एवं क्षत्रियोंकी सवर्णा स्त्रीकी संतान ही 'क्षत्रिय' और 'राजन्य' है। इसके विपरीत क्षत्रिय माता-पिताके अपत्य ब्राह्मण, वैश्य अथवा शूद्र नहीं हो सकते और इसी तरह ब्राह्मण माता-पिताके अपत्य भी क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र नहीं हो सकेंगे। यही इन शब्दोंका प्रकृत प्रत्ययसे निष्पन्न एवं मूल और व्यावहारिक अर्थ है।

गुण-कर्मानुसार 'ब्राह्मण' और 'क्षत्रिय' शब्दोंका प्रयोग करनेपर पाणिनिके ये सूत्र निरर्थक हो जायँगे। अन्य किसी वर्णके अपत्य बहु-सद्गुणसम्पन्न होनेपर भी ब्राह्मण-पद-प्रतिपाद्य अथवा क्षत्रिय-पद-प्रतिपाद्य नहीं हो सकते। ब्राह्मणकी सवर्णा स्त्रीसे उत्पन्न अपत्य ही ब्राह्मण-पद-प्रतिपाद्य होगा। ब्राह्मण-

पद-प्रतिपाद्य होनेपर अथवा क्षत्रिय-पद-प्रतिपाद्य होनेपर किसी गुण अथवा कर्मकी अपेक्षा नहीं है, यही भगवान् पाणिनिका सिद्धान्त है। (महामहोपाध्याय डा० योगेन्द्रनाथ वेदान्ततीर्थ, डी० लिट्०—'जन्मद्वारा वर्णव्यवस्था' पृष्ठ ४१)।

यह मान लेना होगा कि 'ब्रह्म'-'ब्राह्मण', 'क्षत्र'-'क्षत्रिय', 'राजन्'-'राजन्य' आदि शब्द पाणिनिके सहस्र-सहस्र वर्ष पूर्वसे ही प्रचलित रहे हैं। वैदिक साहित्यमें भी सर्वत्र ये ही शब्द उपलब्ध हैं। इन शब्दोंका पाणिनिने सहसा आविष्कार नहीं किया। इनको तथा इनके अर्थ और व्यवहारके नियमोंको भी उन्होंने अपनी इच्छासे कल्पित किया हो, यह बात भी नहीं है। पाणिनिने पूर्वाचार्योंके ग्रन्थ और मतको स्वकीय अनन्य साधारण आर्षप्रतिभाद्वारा सूत्राकारमें नया रूप दे, सुश्रृङ्खलाबद्ध कर, व्याकरणरूप वेदाङ्गशास्त्रकी शिक्षाका श्रेष्ठ साधनमात्र बनाया है। वे इस शास्त्रके प्रथम रचयिता नहीं हैं।

४—नञ्। (२। २। ६)

महाभाष्य—"तथा गौरः शुच्याचारः पिङ्गलकपिलकेश इत्येतानप्यभ्यन्तरान् ब्राह्मण्ये गुणान् कुर्वन्ति······गुणहीने तावत् 'अब्राह्मण्योऽयं यस्तिष्ठन् मूत्रयति, अब्राह्मणोऽयं यस्तिष्ठन् भक्षयति।"

'दूरसे एक व्यक्तिको गौरवर्ण, पिङ्गल कपिल (नित्य तीन बार बिना तेल लगाये स्नान करनेके कारण) केश आदि देखकर अनुमान हुआ है कि यह ब्राह्मण होगा।'

'समीप आनेपर ज्ञात हुआ कि ये अब्राह्मण हैं, ब्राह्मण नहीं; क्योंकि ये खड़े होकर पेशाब करते हैं और खड़े-खड़े ही भोजन करते हैं।'

तपः श्रुतं तथा योनिश्चैवं ब्राह्मणकारकम्।
तपःश्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः॥

'अर्थात्—तपस्या, वेदज्ञान एवं ब्राह्मण पिता-मातासे जन्म ये तीनों ही ब्राह्मण बनानेवाले गुण हैं। जिनमें ये तीनों ही गुण वर्तमान हों, वे ही प्रकृत ब्राह्मण हैं। जिस व्यक्तिने ब्राह्मण पिता-मातासे जन्ममात्र लिया है, किंतु जो तपस्या और वैदिक संध्यादिका अनुष्ठान नहीं करता, वह जातिमात्रका ब्राह्मण है।'

इसी प्रसङ्गमें 'बोधायन-गृह्यसूत्र'के कुछ सूत्र उद्धृत किये जाते हैं—

प्रथमप्रश्ने सप्तमेऽध्याये—

ब्राह्मणेन ब्राह्मण्यामुत्पन्नः प्राक्तोपनयनाज्जात इत्यभिधीयते॥ १॥

उपनीतमात्रो व्रतानुचारी वेदानां किंचिदधीत्य ब्राह्मणः॥ २॥

एकां शाखामधीत्य श्रोत्रियः॥ ३॥

अङ्गाध्याय्यनूचानः॥ ४॥

कल्पाध्यायी ऋषिकल्पः॥ ५॥

सूत्रवचनाध्यायी भ्रूणः॥ ६॥

चतुर्वेदादृषिः॥ ७॥

अत ऊर्ध्वं देवः॥ ८॥

इनका अर्थ है—

'ब्राह्मणका औरस तथा ब्राह्मणीके गर्भसे उत्पन्न होनेपर उपनयनसे पहलेतक वह 'जात' संज्ञक (केवल जन्मसे ब्राह्मण) होता है।'

"उपनयन होनेपर ब्रह्मचर्यव्रतानुचारी एवं थोड़ी वेद-शिक्षा पानेपर ही 'जात'को 'ब्राह्मण' पदवी मिलती है। वेदकी एक शाखाका अध्ययन करनेपर ब्राह्मण 'श्रोत्रिय' कहलाता है। वेदाङ्गोंके अध्येताको 'अनूचान' कहते हैं। जिन्होंने कल्पसूत्रका अध्ययन किया है, वे हैं 'ऋषिकल्प'। सूत्रवचनाध्यायीका नाम है 'भ्रूण'। जिन ब्राह्मणोंने चारों वेदोंका अध्ययन किया है, वे हैं 'ऋषि'। इनसे ऊपर 'देव'।"

'बोधायन-गृह्यसूत्र' वैदिक युगका अति प्राचीन ग्रन्थ है। 'बोधायन', मन्त्रद्रष्टा ऋषि हैं।'

महाभाष्यके उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट प्रतिपादित होता है कि किसीके ब्राह्मण-जैसा (गौरवर्ण, कपिल-पिङ्गलकेश आदि) दिखायी देनेपर अथवा किसीके गुण-कर्म ब्राह्मणके अनुरूप होनेपर भी वह 'ब्राह्मण' नहीं हो सकता। अति प्राचीनकालसे पाश्चात्य मतसे जिसे 'वैदिक युग' कहते हैं—वैदिक समाजमें जन्मद्वारा ही वर्णभेद प्रचलित था। (तत्र 'सवर्णासु सवर्णाः' बोधायनधर्मसूत्र १। ९। १४ के अनुसार) सवर्णा कन्याके साथ समान वर्णके पुरुषका विवाह होगा। ब्राह्मणभार्याके गर्भसे जो पुत्र होगा, जन्मके कारण ही (जात) वह ब्राह्मण होगा। फिर भी अनुपनीत ब्राह्मण-संतानका वेदपाठ अथवा किसी देवकार्यमें अधिकार नहीं है। गृत्समद कहते हैं—'अनुपनीतके साथ भोजन करनेपर बारह रात्रिका उपवास करके प्रायश्चित्त करना चाहिये।' यह वाक्य बोधायन ऋषिप्रणीत धर्मशास्त्रमें उद्धृत हुआ है। उपनयनमात्रसे वह 'जात' बालक 'द्विज' बन जाता है। तब उसकी वास्तविकरूपसे 'ब्राह्मण' संज्ञा हो जाती है। तब

उसका वेद तथा देवकार्यादिमें अधिकार हो जाता है। तबसे अबतक ठीक यही नियम चला आ रहा है।

> जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्काराद् द्विज उच्यते।
> विद्यया याति विप्रत्वं श्रोत्रियस्त्रिभिरेव च॥
> (अत्रिसंहिता १४०)

"ब्राह्मणकी संतान जन्म लेते ही 'ब्राह्मण' कहलानेयोग्य हो जाती है। गर्भाधानसे लेकर उपनयनपर्यन्त संस्कार होनेपर वह 'द्विज' कहलायेगा। वेद-विद्या प्राप्त करनेपर उसकी 'विप्र' संज्ञा हो जायगी और जिसमें ब्राह्मणत्व, द्विजत्व और विप्रत्व—ये तीनों हैं, उसे 'श्रोत्रिय' कहते हैं।"

पाणिनि कहते हैं—'श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते।'

(५।२।८४)

किसी अर्वाचीन समाज-सुधारकने इस प्रसिद्ध श्लोकको विकृत कर 'जन्मना जायते शूद्रः' आदिका एक श्लोक बना दिया। यह श्लोक किसी भी स्मृति किंवा पुराणमें नहीं है। इनके मतसे इस जन्मके गुणकर्मद्वारा ही इस जन्मका वर्ण निश्चित होगा, किंतु किस उम्रमें होगा, कौन निश्चित करेगा—यह बात उन्होंने नहीं बतलायी। यदि जातमात्र शिशु शूद्र हो सकता है तो जातमात्र शिशु ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि क्यों नहीं हो सकता? फिर जातमात्र शूद्र होनेपर शूद्रवर्ण गुण-कर्मानुसार नहीं होगा, यह मानना होगा। अतएव यह बात उक्त सिद्धान्तकी विरोधिनी तथा वस्तुतः अमूलक है।

बात तो यह है कि क्षत्रिय और वैश्यकी संतान भी शूद्र होकर जन्म नहीं लेती, स्व-स्ववर्णके अधिकार और कर्तव्य लेकर ही जन्म ग्रहण करती है। ब्राह्मण-संतानकी तो बात ही क्या।

यह प्रक्षिप्त वचन बारंबार छापे जानेके कारण पक्का प्रमाण-सा बन गया है। किंतु वास्तवमें यह किसी भी शास्त्रमें नहीं पाया जाता। आधुनिक सुविधावादी लोगोंने सुस्पष्ट शास्त्र-निर्देश और वर्णाश्रमकी चिराचरित विधिके विरुद्ध कहीं भी कुछ न पाकर कल्पनालोकसे इसका आविष्कार कर लिया है।

५—गर्गादिभ्यो यञ्। (४।१।१०५)
तस्यापत्यम्। (४।१।९२)
एको गोत्रे। (४।१।९३)
गोत्राद् यून्य स्त्रियाम्। (४।१।९४)
अपत्यं पौत्रप्रभृतिगोत्रम्। (४।१।१६२)

इन सूत्रोंके अर्थ हैं—"गोत्रप्रतिष्ठाता ऋषियोंके वंशज परवर्ती पुरुषगण मूलगोत्र-प्रतिष्ठाताके पदद्वारा ही परिचित होंगे। इस प्रकार वसिष्ठके बाद चाहे कितनी ही पीढ़ियाँ क्यों न बीत गयी हों, उनके वंशज वसिष्ठगोत्री अथवा 'वासिष्ठ'के नामसे परिचित होंगे। गर्गके पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र आदि सभी समान रूपसे 'गार्ग्य' एवं 'गार्ग्यायण' अर्थात् 'गर्ग-गोत्रीय' नामसे अभिहित होंगे। इसी प्रकार 'गार्गी' शब्दका अर्थ भी समझना चाहिये।"

पातञ्जल महाभाष्यमें ब्राह्मणोंके अनेक गोत्रोंका उल्लेख हुआ है। एकमात्र ब्राह्मण वर्ण ही वंश-प्रतिष्ठाता आदि पुरुष किसी सुप्राचीन ऋषिके नामानुयायी गोत्र एवं उनके परवर्ती कतिपय ख्यातनामा (प्रवर) पुरुषोंके नामानुयायी 'प्रवर' नामसे स्मरण किया जाता है। गोत्रसंख्या सीमा-बद्ध है, सब मिलाकर मात्र ४२ हैं। क्षत्रिय-वैश्योंके द्विजाति होनेपर भी उनका कोई गोत्र नहीं है[1]। फिर भी वे अपने-अपने कुलपुरोहितों अथवा गुरुओंके गोत्रके अनुसार अपने गोत्रका परिचय दे सकते हैं। भाष्यमें क्षत्रियोंके अनेक गोत्र एवं वैश्योंके भी दो गोत्रोंका उल्लेख हुआ है। इसीके अनुसार भीष्मका 'वैयाघ्रपद्य' गोत्र प्रसिद्ध है।

ब्राह्मणोंके अतिरिक्त और किसीके प्रवर भी नहीं हैं।

शूद्रवर्णके गोत्र भी नहीं हैं, फिर भी उच्चवर्णोंके अनुकरण करते हुए पुरोहितोंके गोत्रानुसार उनके गोत्रोंको स्थिर किया गया है।

६—कौमारापूर्ववचने। (४।२।१३)

इस सूत्रसे पता चलता है कि वैदिक भारतमें जिनका सम्बन्ध पहले किसीके साथ नहीं हुआ है, ऐसी कुमारी कन्याओंका ही विवाह होता था। यही नियम अबतक

---

१. राजन्यविशां प्रातिस्विकगोत्राभावात् प्रवराभावस्तथापि पुरोहितगोत्रप्रवरं वेदितव्यम्। (विज्ञानेश्वर, मिताक्षरा १।५३)

'यद्यपि क्षत्रिय और वैश्योंके अपने-अपने गोत्र नहीं हैं और प्रवर भी नहीं हैं, तथापि उनके अपने-अपने पुरोहितोंके गोत्र-प्रवरके अनुसार गोत्र-प्रवर होते हैं।'

विज्ञानेश्वरने 'आश्वलायन श्रौतसूत्र' से ये वाक्य लिये हैं—'तथा च यजमानस्य आर्षेयान् प्रवृणीते। (३।१) पौरोहित्यान् राजविशां प्रवृणीते।'

प्रचलित है । इधर सौ वर्षोंमें (१८५६ और १९५६ के बीच) धर्मविरुद्ध कानून बनाकर विधवा एवं सधवाओंका पुनर्विवाह प्रचलित किया गया है । इस कानूनके द्वारा भारतीय नारीका विशेषत्व—सतीत्व, जो पृथ्वीके किसी देशमें नहीं है, आहत हुआ है ।

७. वर्णाश्रमी समाजमें शास्त्रानुयायी लोग समान गोत्रमें, समान प्रवरमें और सपिण्ड कुलमें विवाह नहीं करते। प्रत्येक पितृ-कार्य एवं दैव-कार्यमें गोत्र एवं प्रवरका उल्लेख होता है । पहले ब्राह्मणलोग परिचय देते समय सदा ही गोत्र और वेदशाखाका उल्लेख करते थे । जो लोग गोत्रमें स्थित हैं, वे स्वाभाविकरूपसे वर्णाश्रम समाजमें स्थित हैं । उनकी कुलपरम्परा सांकर्य-दोष-दुष्ट है, ऐसा नहीं कहा जा सकता । गोत्र-उल्लेखका अर्थ ही है पूर्वतन आदि-पुरुष—किसी ऋषिके पवित्र कुलमें जन्म होनेका निर्देश।

मेधातिथि कहते हैं, 'पुरुषस्य नियतः सम्बन्धः गोत्र-प्रवरवत् ।' (मनुभाष्य २ । २९)

अत्रि-भरद्वाजिका, वसिष्ठ-काश्यपिका प्रभृति उदाहरण-द्वारा भिन्न गोत्रमें विवाहका उल्लेख किया गया है ।

इन सूत्रोंसे प्रतिपन्न होता है कि अन्ततः ईसापूर्व नवम-दशम शताब्दीमें एवं इसके भी बहुत पहले ब्राह्मण-समाजमें ऋषिगोत्रोंका व्यवहार आजकलकी भाँति ही प्रचलित था । गोत्रप्रवरकी इस चिरन्तन अकाट्य संयोग-शृङ्खलाद्वारा निबद्ध वर्णाश्रमी समाजकी कुलधारा अबतक पवित्र और अव्याहत बनी हुई है । यही युग-युगान्तसे वंश-गौरवके चिर जाग्रत् स्वाभिमान और जगत्के सर्व-प्राचीन और सुपवित्र आभिजात्यको अक्षुण्ण रखनेमें सहायता देती रही है ।

आजकल सामान्य सुविधाके लिये एवं नये कानूनद्वारा बाधा हटा दिये जानेके कारण कोई-कोई समान गोत्रमें विवाह करने लगे हैं; किंतु अच्छी संतानके उत्पादनकी दृष्टिसे स्त्री-पुरुषोंका निकट सम्बन्धमें विवाह होना अनुचित है । प्राणि-जगत्में एक रक्तके मिलनेके फलस्वरूप अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं, यह बात प्रमाणित हो चुकी है ।[2]

असगोत्र और असपिण्ड विवाह वंशकी पवित्रता और सर्वतो-भावसे उन्नतिके लिये उपकारी और अपरिहार्य एवं आधुनिक विज्ञानसम्मत भी है । शास्त्र कहता है कि 'सगोत्रमें विवाह होनेसे संतान चण्डाल होती है । कुलमें पातित्य-दोष आता है ।'

८. पत्युर्नो यज्ञसंयोगे । (४ । १ । ३३)

महाभाष्य—'सर्वेण च गृहस्थेन पञ्च महायज्ञा निर्वर्त्याः । एवमपि तु याजकस्य पत्नी न सिध्यति। उपमानात् सिद्धम्—पत्नीव पत्नीति ।'

कैयटकृत भाष्य-प्रदीपमें लिखा है कि 'त्रैवर्णिकानामेव सभार्याणां यज्ञाधिकारो न तु शूद्रस्य । उपमानादिति अग्नि-साक्षिकपूर्वकपाणिग्रहणाश्रयादिति, भावः ।'

अर्थ—पति शब्दके उत्तर 'न' प्रत्ययके योगसे 'यज्ञमें सहकर्मिणी, सहधर्मिणी' अर्थमें 'पत्नी' पद सिद्ध होता है ।

'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य—केवल इन्हीं त्रैवर्णिकोंको सस्त्रीक वैदिक यज्ञके अनुष्ठानमें अधिकार है । एकजन्मा शूद्रका यज्ञमें अधिकार नहीं है ।' 'पत्नी' शब्दका अर्थ है—पतिके साथ यज्ञ-कर्ममें बैठनेकी अधिकारिणी । यज्ञ-कर्ममें मात्र द्विजोंका ही अधिकार है। वृषजक (शूद्र) का यज्ञमें अधिकार नहीं होता । इसलिये शूद्रकी स्त्री-'पत्नी'शब्दवाच्य भी नहीं हो सकती ।

फिर भी सत्-शूद्र (जिसके हाथका छुआ जल पिया जा

---

2. 'Itchthyosis is specially to be found in families in which consanguinous marriages occur.'

—*Davenport*

'एक वंशके स्त्री-पुरुषोंमें विवाह जिन सब परिवारोंमें होते हैं, उनमें चर्मरोग विशेषरूपसे पाया जाता है ।'

'Biological objection to cousin marriages is that they perpetuate like defects.'

—'Heredity and Eugenics'

'चचेरे, ममेरे, मौसेरे आदि निकट-सम्पर्कीय भाई-बहिनोंमें विवाह जीव-विज्ञानकी दृष्टिसे आपत्तिजनक है; क्योंकि इससे दोनों पक्षोंके साधारण दोष भी संतानमें स्थायी हो जाते हैं ।'

'Consanguinous marriages are more than twice as apt to be sterile than non-consanguinous marriages.'

—'Heredity in relation to Eugenics'

'एक रक्तके स्त्री-पुरुषोंका विवाह भिन्नवंशीय स्त्री-पुरुषोंके विवाहकी अपेक्षा दूनेसे अधिक संततिविहीन होता है ।'

—पण्डितराजोपाध्यायप्रणीत भारतीय समाज शास्त्र १२०पृष्ठ (बँगला)

सकता है) की स्त्रीका अग्निसाक्षिक पाणिग्रहण होता है और उसका गृहस्थीके दैनिक पञ्चमहायज्ञमें अधिकार भी है। इसलिये प्रकृतिपक्षमें 'पत्नी' न कहे जानेपर भी सत्-शूद्रकी स्त्रीकी 'पत्नी' संज्ञा हो सकती है। असत्-शूद्र (जिसके हाथ-का छुआ जल भी नहीं ग्रहण किया जाता) की स्त्रीको 'पत्नी' की संज्ञा नहीं दी जा सकती।

पाणिनिके समयमें तथा उनसे भी पहले वर्णाश्रम-धर्मका अधिकार-भेदसे दृढ़ताके साथ पालन होता था। जिस वर्णका जो अधिकार है, वैसा ही उसका स्वधर्म एवं कर्तव्य भी होता है।

(क्रमशः)

पशु-पक्षी एवं जीव-जन्तु भी परोपकारी होते हैं

[सच्ची घटनाएँ]

(लेखक—श्रीपुरुषोत्तमप्रसादजी मिश्र, बी० ए०, विज्ञानरत्न)

परोपकारको शायद मानव अपना एकाधिकार मानता है; फिर भी ऐसे उदाहरण हैं कि अनेक बार मानव स्वयं अपने स्वजातीय प्राणीकी रक्षा या सहायता करनेमें उस समय विफल रह जाता है, जब उसकी सबसे अधिक आवश्यकता रहती है। इसके विपरीत अनेक पशु-पक्षी या जीव-जन्तु कई बार ऐसा कार्य कर जाते हैं, जिसे परोपकारके उच्च आदर्शकी संज्ञा देना अतिशयोक्ति नहीं।

वैसे कोई यह कह सकता है कि जिस कबूतरने लकड़ीका एक टुकड़ा गिराकर पानीमें डूब रहे चींटेकी प्राणरक्षा की थी, उस कबूतरपर जब बहेलियेने शर-संधान करना चाहा, तब चींटेद्वारा बहेलियेके पैरमें जोरसे काट लिये जानेकी कहानी तो हमने सुनी है, जिससे तीरका निशाना चूक गया और कबूतरकी जान बच गयी। नलके चले जानेपर अकेली रह गयी दमयन्तीका शील-हरण करनेकी चेष्टा करनेवाले बहेलियेको ऐन मौकेपर साँपद्वारा डँस लिये जानेका पौराणिक आख्यान भी हमने पढ़ा है; पर क्या इस प्रकारकी घटनाएँ आज भी घटती हैं?

उत्तर है, जी हाँ, ये सदा घटती रही हैं और आज भी घटती हैं। अभी गत २६ जून १९७१ के 'नवभारत टाइम्स' (बम्बई-संस्करण) में जबलपुरका एक समाचार छपा है कि 'सिवनी जिलेके हरई पुलिस थानेके अन्तर्गत भेड़ा गाँवके जंगलमें गायोंने एक ग्वालेकी सिंहसे रक्षा की। समाचारमें बताया गया है कि मल्लू नामक उक्त ग्वाला अपने दो साथियोंके साथ जब जंगलमें गया हुआ था, तभी एक वनराजने उसपर हमला कर दिया। शेरको देखते ही मल्लूके साथी और कुछ मवेशी जान बचानेके लिये भाग खड़े हुए और शेरने मल्लूको दबोच लिया। तभी उसकी दो गायोंने अपने पैने सींगोंसे शेरपर दोतरफा हमला कर दिया, जिससे शेरको अपनी जान बचानेके लिये दुम दबाकर भागनेके सिवा कोई चारा नहीं रह गया। मल्लूको चिकित्साके लिये अस्पताल पहुँचाया गया, जहाँ वह खतरेसे बाहर है।'

साँपोंसे नेवले या बंदरके द्वारा रक्षाकी घटनाएँ तो अनेक सुनी जाती हैं; पर ऐसी घटनाओंकी भी कमी नहीं है, जब साँपोंने मनुष्योंकी रक्षा की है। केरलके मोपला-विद्रोहके समयकी घटना है। उपद्रवोंके कारण सर्वत्र अराजकताकी-सी स्थिति पैदा हो गयी थी। इस स्थितिका लाभ उठाकर डकैतोंका एक दल एक जमींदारके घरमें घुस पड़ा और लूट-पाट करने लगा। इतनेमें न जाने कहाँसे फन फैलाये अनेक गेहुँवन साँप निकल आये। अपने चारों ओर काल-रूप सर्पोंको फुंकारते देखकर डाकू-दल इतना आतङ्कित हो उठा कि बिना कुछ सामान लिये ही वहाँसे भाग चला।

जिस तरह दमयन्तीकी रक्षाके लिये नागने बहेलियेको डँस लिया था, उसी प्रकार एक स्त्रीके प्राण और गहनोंकी रक्षा भी एक साँपने उसके बदनीयत नौकरको डँसकर की। यह घटना भी दक्षिण भारतकी ही है और करीब सन् १९२०-२१ के आसपासकी है। उक्त महिला धार्मिक विचारोंकी थी। उसे दस मील दूर एक धार्मिक समारोहमें शामिल होना था। रास्ता बैलगाड़ीका था, जिसे उसका नौकर हाँक रहा था। रास्तेमें नौकरकी नीयत बदल गयी और उसने चालू रास्ता छोड़कर सुनसान रास्तेपर गाड़ी हाँक दी। नौकरका रवैया देखकर उस महिलाको पूरा शक हो गया कि यह मुझे मारकर मेरे गहने लूट लेना चाहता है। अपने प्राण बख्श देनेके लिये वह बहुत

गिड़गिड़ायी, नमककी सैरियत देनेकी याद भी दिलायी; पर लोभान्ध नौकर उसकी बात क्यों सुनने लगा ! अपनी मालकिनका सिर कुचल देनेके लिये उसने पास ही पड़ा पत्थरका एक बड़ा ढोका उठा लिया, पर—

'जाको राखै साइयाँ, मार सकै नहिं कोय।'

—वाली कहावत चरितार्थ हुई। ढोका उठाते ही उसके नीचेसे एक भयंकर नाग निकल आया, जिसने अपने जहरीले दंशसे नमकहराम नौकरको यमपुरका रास्ता पकड़ा दिया। महिला बेचारी तो भयके मारे बेहोश हो गयी थी। बादमें उस रास्तेसे गुजरनेवाले दो मजदूरोंने उसकी सँभाल की और उसे सुरक्षित घर पहुँचा दिया।

कई वर्ष पहलेकी जोधपुरकी एक घटना तो और भी विचित्र है, जिसे संयोगमात्र कहकर नहीं टाला जा सकता। एक घरमें कहींसे एक पुराना सर्प घुस आया। गृहमालिकने उस सर्पसे आतङ्कित होने या उसे मार डालनेका प्रयत्न करनेके विपरीत उसका स्वागत ही किया और उसे रोज दूध भी पिलाने लगा। संयोगसे एक दिन गृहस्वामी और स्वामिनी बाहर गये हुए थे। घरमें रह गया था उनका छोटा पुत्र और अल्पवयस्का पुत्री। इसी समय घरमें डाकू घुस आये। अल्पवयस्क बच्चोंको अरक्षित घरमें पाकर डाकुओंने उन्हें अपहरण कर ले जाना ही ज्यादा श्रेयस्कर समझा, ताकि बादमें गृहस्वामीसे रकम वसूल की जा सके। पर उन्हें तो माता-पिता बूढ़े सर्पदेवकी रखवालीमें छोड़ गये थे। अतः वे, भला, कैसे चूकते ! सर्पराजने चटपट आगे बढ़कर एक डाकूको काट लिया, जिससे लड़केको तो डाकू न ले जा सके, पर बच्चीको लेकर भाग गये।

पर बात यहीं खत्म नहीं हुई। डाकू मकानमालिकके नाम एक पुर्जी छोड़ गये थे, जिसमें कहा गया था कि—'अमुक तिथिपर, अमुक समय, अमुक स्थानपर, अमुक धन-राशि देकर अपनी पुत्रीको छुड़ा लाना।' निश्चित तिथिको मकानमालिकने सर्पको अपने पास ले लिया और चल पड़ा उस स्थानकी ओर, जहाँ डाकू बच्चीको लेकर धन लेने आनेवाले थे। सचमुच डाकू-दल वहाँ उपस्थित था। उस व्यक्तिने चुपकेसे सर्पको छोड़ दिया, जिसने पुनः एक सशस्त्र डाकूको मृत्युकी गोदमें सुला दिया। यह आफत देखकर डाकू बच्चीको वहीं छोड़कर भाग निकले। उन्हें धन लेनेकी भी सुधि नहीं रही।

स्याम देश (अब थाईलैण्ड) की भी घटना कम दिलचस्प नहीं है। एक धनी जमींदारके विशाल प्राङ्गणमें एक सर्प रहा करता था। यह जमींदार भी उसके प्रति बहुत कृपालु था और उसे रोज दूध पिलाया करता था। जमींदारके प्राङ्गणमें ही पशुओंका बाड़ा था। एक दिन सुनसान अँधेरी रातमें एक चीता इस बाड़ेमें घुस आया। वह अभी एक-दो पशुओंको अपना शिकार बनाना ही चाहता था कि साँप अपने बिलमेंसे निकलकर उससे लिपट गया और उसे कई जगह काट खाया। चीता विषसे जर्जर होकर जब क्लान्त हो गया, तब सर्पने उसे छोड़ दिया और अब वह जमींदारकी ओर चला। जमींदार तथा परिवारके अन्य सदस्य उसी प्राङ्गणमें घोर निद्रामें मग्न थे। साँप जाकर जमींदारके पैरमें लिपट गया, जिससे जमींदारकी नींद खुल गयी। जमींदारकी नींद खुलते ही सर्पने बन्धन खोल दिया और वह बाड़ेकी ओर सरकने लगा। जमींदार भी उसके पीछे-पीछे चल पड़ा। बाड़ेमें अन्तिम साँसें लेते चीतेको देखकर वह हक्का-बक्का रह गया।

ऐसे प्रसङ्ग भी हैं, जिनमें अन्य प्राणियोंने साँपोंसे मनुष्यकी रक्षा की है। अखबारोंमें एक समाचार छपा था कि रूसके अजरबैजानमें एक पालतू मुर्गेने एक जहरीले सर्पसे जमकर लोहा लिया और वह अपने स्वामीके पुत्रकी जान बचानेमें सफल हो गया। मुर्गा घरके प्राङ्गणमें घूम रहा था। इतनेमें उसकी नजर अपने स्वामीके तीनवर्षीय पुत्रसे कुछ ही दूर रह गये काले नागपर पड़ी। झपटकर मुर्गा साँपके पास पहुँच गया और उसपर अपनी चोंचसे प्रहार करने लगा। गृहस्वामीने इस विचित्र युद्धको देख लिया और कहनेकी आवश्यकता नहीं कि उसने तत्काल वहाँ पहुँचकर सर्पका काम तमाम कर दिया।

इस सिलसिलेमें स्वयं 'कल्याण' के ही एक अङ्कमें छपी एक घटनाको दुहराना अप्रासङ्गिक नहीं होगा। घटना ६ दिसम्बर, १९६९ की बतायी गयी है, जो इस प्रकार है—

''इकलहरा कोयलाखानके कैम्प नं० ४के निवासी धनीरामका पुत्र रामदयाल दिनमें ११ बजे पानी लानेके लिये कुएँपर गया हुआ था। कुआँ करीब दो फर्लांग दूर था। साथमें उसकी बहिन भी थी। रास्तेमें बड़कुई खानकी एक ट्राम-लाइन भी पार करनी पड़ती थी, जिसका निर्माण खानसे कोयलेकी ढुलाईके लिये किया गया है। पानी लेकर

रामदयाल जैसे ही ट्राम-लाइनके पास पहुँचा कि न जाने कहाँसे चार फुट लंबा एक साँप अचानक आकर उसके पैरोंसे लिपट गया। रामदयाल घबरा तो बहुत गया, पर सिरपर मटका लिये वह स्तम्भित-सा निश्चल खड़ा रहा। पास ही महुएका एक पेड़ था, जिसपर एक नीलकण्ठ और एक तोता बैठे हुए थे। भगवान्‌की मर्जी। नीलकण्ठने साँपको देख लिया और इसके पूर्व कि साँप रामदयालके पैरमें अपने विषैले दाँत चुभो पाता, नीलकण्ठने झपाटेके साथ उसके फनपर इस कदर तीव्र प्रहार किया कि वह व्याकुल हो उठा। फिर क्या था। नीलकण्ठ और तोतेने मिलकर उसपर इतने प्रहार किये कि लहूलुहान साँपने रामदयालका पैर छोड़कर खिसक जानेमें ही अपनी कुशल समझी। बहन तो यह दृश्य देखकर भयसे भौंचकी रह गयी थी। उसके माता-पिता एवं कैम्पके अन्य लोग भी दौड़े आये। रामदयालकी जान बच गयी, जिसका श्रेय नीलकण्ठ और तोतेको है।

चित्रकूटकी बात है। पयस्विनी नदीमें एक छोटा बालक अचानक फिसलकर डूबने लगा। अपने बालकको डूबते देखकर माता धाड़ मारकर रोने और बच्चेको बचानेकी लोगोंसे प्रार्थना करने लगी। इतनेमें छपाक्‌की आवाज हुई और लोगोंने आश्चर्यचकित होकर देखा—इससे पहले कि सर्वबुद्धिसम्पन्न मनुष्य कुछ कर पाये, एक बंदर पानीमें कूद पड़ा है। कुछ ही क्षणोंमें बंदरने बालकको पानीमेंसे बाहर लाकर रोती-बिलखती माँके पास छोड़ दिया और धन्यवादकी प्रतीक्षा न करते हुए लंबी छलाँगोंके साथ वह एक वृक्षपर चढ़ गया।

घटना सन् १९३०-३१ के आसपासकी है, जब भालुओंने डाकुओंसे एक जमींदारकी सम्पत्तिकी रक्षा की थी। डाकुओंको आया देख जमींदार चुपचाप खिसक गया और पास ही तमाशा दिखा रहे सर्कसके पंडालमें पहुँच गया। उसने सर्कसके मैनेजरसे सहायताकी याचना की। मैनेजरने डाकुओंका पीछा करनेके लिये तीन भालुओंको प्रेरित किया। भालू प्रशिक्षित तो थे ही, उन्होंने जाकर जमींदारके आँगनमें ही डाकुओंको घेर लिया और दो डाकुओंको तो जहाँ-का-तहाँ ही ढेर कर दिया। इस अप्रत्याशित आफतसे घबराकर शेष डाकुओंने भागकर एक कमरेमें शरण ली। भालू तबतक उस कमरेके दरवाजेसे टस-से-मस नहीं हुए, जबतक पुलिस-दलने आकर डाकुओंको गिरफ्तार नहीं कर लिया। बादमें जमींदारने सर्कसवालोंको इनाममें कई बीघे जमीन दी।

कुत्तोंने तो अपने स्वामियोंकी भारी-से-भारी संकटसे रक्षा की ही है, हाथी भी इसमें पीछे नहीं है। घटना सन् १९३६ की है, जब केरलमें एक हाथीने अनेक लोगोंकी जान बचायी थी। एक बरात आयी हुई थी, जिसके लिये विशाल मण्डप सजाया गया था। मण्डपमें मोटे-मोटे लकड़ीके खंभे प्रयुक्त किये गये थे। बरात देखनेके लिये भारी संख्यामें लोग मण्डपमें एकत्र थे। जब सभी लोग राग-रंगमें मस्त थे, तभी अचानक मण्डपकी एक रस्सी टूट गयी और एक खंभा धीरे-धीरे झुककर गिरने लगा। पास ही बरातमें आया हाथी खड़ा था। उसने गिर रहे खंभेको अपनी सूँड़से सँभाल लिया और उसे सीधा खड़ा कर दिया। इतनेमें लोगोंका ध्यान इस ओर गया और खंभेको सीधा कर रस्सी फिरसे बाँध दी गयी। अगर हाथीने ऐन मौकेपर खंभेको न सँभाल लिया होता तो पूरे मण्डपके धराशायी होनेसे कितनी बड़ी दुर्घटना हो जाती, यह सोचनेकी बात है।

सन् १९४७ में भारत-विभाजनके समय चारों ओर मार-काट, लूट-पाट मची हुई थी, जब एक गायने ऐन मौकेपर पहुँचकर एक मुसल्मान सज्जनको जलते घरमें भस्म हो जानेसे बचा लिया था। बताते हैं कि उक्त सज्जनने उस गायको कसाईके हाथसे बीस रुपयेमें खरीदकर उसकी रक्षा की थी और अपने घरपर पाल लिया था। जब हिंदू-मुसल्मान एक दूसरेके खूनके प्यासे हो रहे थे, तब एक उत्तेजित भीड़ने उनके मकानको घेर लिया और उसमें चारों ओरसे आग लगा दी। मकान धू-धू कर जलने लगा और घर धुएँसे भर गया। उपद्रवियोंके अन्यत्र चले जानेके बाद भी उक्त सज्जनको धुएँके कारण घरमेंसे बाहर निकलनेका मार्ग नहीं मिल रहा था। उन्होंने जीवनकी आशा त्याग दी थी, पर इसी समय वह गाय न जाने कैसे वहाँ पहुँच गयी और दरवाजेके भीतरसे अपनी पूँछको घरके भीतर घुसेड़कर हिलाने लगी। हिंदुओंको मरनेके बाद वैतरणी पार करानेवाली गायने उक्त मुसल्मान सज्जनको जीवित ही वैतरणी पार कर दिया।

बैलोंद्वारा बाघसे चुनाव-अधिकारीकी रक्षा और पेलोरस जैक नामक डॉलफिन मछलीद्वारा न्यूजीलैंडके कुक जलडमरूमध्यके खतरनाक चट्टानी मार्गमें जहाजोंके मार्गदर्शन-

की 'कल्याण'के अङ्कोंमें छपी घटनाओंका पुनरुल्लेख करनेकी यहाँ आवश्यकता नहीं। यह तो केवल कुछ घटनाओंका ही उल्लेख है, ऐसी असंख्य घटनाएँ हैं, जिनसे यह स्पष्ट होता है कि निर्बुद्धि माने जानेवाले जीव-जन्तु भी केवल संयोगवश नहीं, बल्कि जान-बूझकर परोपकार करनेकी क्षमता अर आदत रौखते हैं। यहाँतक कि अपकारी समझे जानेवाले प्राणी भी परम उपकारी सिद्ध हुए हैं, चाहे इसे भगवत्प्रेरणा कहें या पूर्वजन्मके संस्कार। क्या आजका स्वार्थी मानव भी इन घटनाओंसे कुछ शिक्षा लेना पसंद करेगा?

पीपलका वृक्ष

(लेखक—डा० गोपालप्रसादजी 'वंशी')

भारतीय संस्कृतिमें बहुत-से ऐसे वृक्ष हैं, जो पूजनीय माने जाते हैं और जिनकी पूजा बड़ी श्रद्धासे होती है। इन वृक्षोंमें कुछ तो संसारप्रसिद्ध एवं बहुसंख्यक व्यक्तियों-द्वारा पूजित हैं, कुछकी पूजा गौणरूपसे होती है और कुछ केवल पवित्र माने जाते हैं।

प्राचीन कालमें जब लोग वृक्षोंके नीचे रहते थे, तब वे वृक्षोंका बड़ा सम्मान करते थे। शान्तिके लिये जिस प्रकार इन्द्र, वरुण आदि देवताओंकी प्रार्थना करते थे, उसी प्रकार वृक्षोंकी भी प्रार्थना करते थे।

'वनिनो भवन्तु शं नो ।' (ऋग्वेद ७ । ३५ । ५)

अर्थात् 'वृक्ष हमारे लिये शान्तिकारक हों।' ब्राह्मण-ग्रन्थों एवं उपनिषदोंमें तो पवित्र वृक्षोंके नामतक गिनाये गये हैं। यज्ञका जीवन वृक्षोंकी लकड़ीको ही माना गया है। यज्ञोंमें समिधाके निमित्त बरगद, गूलर, पीपल और पाकड़ (प्लक्ष)—इन्हीं वृक्षोंकी लकड़ियोंको विहित माना गया है और कहा गया है कि ये चारों वृक्ष सूर्य-रश्मियोंके घर हैं—'एते वै गन्धर्वाप्सरसां गृहाः।' (शत० १ । ५ । ४ । १)

इन प्रधान वृक्षोंके उपरान्त गौण वृक्षोंकी समिधाका उल्लेख करते हुए कहा गया है कि पलाश, मदार, बेल और खैरके वृक्ष भी यज्ञके योग्य हैं; इसलिये इन्हीं वृक्षोंकी समिधा होती है।

पालि-ग्रन्थोंमें तो स्पष्ट वर्णन है कि कुछ देवता वृक्षोंपर ही रहते हैं और इसी बातको लेकर भिक्षुओंको वृक्ष काटना मना किया गया है। जो भिक्षु किसी वृक्षको काटता है, उसे 'पाचित्तिय' (प्रायश्चित्त) दोष होता है। 'विनयपिटक'में इस सम्बन्धमें एक कथा आयी है। एक समय भगवान् बुद्ध आलवी नगरके अग्गालव चैत्यमें विहार करते थे। उस समय आलवीके एक भिक्षुने विहार बनानेके लिये एक वृक्ष काटना आरम्भ किया। उस वृक्षपर रहनेवाले देवताने भिक्षुसे कहा—'भन्ते! अपने भवन बनानेके लिये मेरे भवनको मत काटिये।' भिक्षुने उसकी बात न मानकर वृक्ष काट डाला। देवताके बच्चेका हाथतक कट गया। तब वह देवता बड़ा क्रुद्ध हुआ और उसने भिक्षुको जानसे मार डालना चाहा, किंतु फिर सोचा कि 'मुझे ऐसा करना शोभा न देगा, क्यों न मैं चलकर भगवान् बुद्धसे कहूँ!' वह तथागतके पास गया और उनसे सारी बात कही। भगवान्ने देवताको समझाकर एक अन्य वृक्षपर रहनेके लिये कहा और भिक्षुओंके लिये नियम बनाते हुए कहा—"जो कोई भिक्षु वृक्षोंको गिरायेगा, उसे 'पाचित्तिय' होगा।" 'समन्त पासादिका'में आचार्य बुद्ध घोषने लिखा है कि प्रत्येक पक्षमें पूर्णिमा और अमावस्याको हिमालयपर देवताओंकी सभा होती है। उसमें देवताओंसे वृक्षधर्मके विषयमें पूछा जाता है—'तुम वृक्ष-धर्मके अनुसार रहते हो या नहीं?' वृक्षधर्मका अर्थ है—वृक्षके नष्ट होने-पर वृक्ष-देवताको खिन्नमन न होने देना। जो देवता वृक्ष-धर्मके अनुसार नहीं रहते, उन्हें देव-सभामें प्रवेश नहीं करने दिया जाता। उक्त वर्णनसे स्पष्ट है कि वृक्षोंको देवताओंका निवास-स्थान माना जाता है। वृक्ष-देवताओंके विमान वृक्षोंके ऊपर ही रहते हैं। पालि-ग्रन्थोंके अनुसार भगवान् बुद्ध जिस वृक्षके नीचे बैठकर ज्ञान प्राप्त करते हैं, वह परम पूजनीय होता है और उसे 'बोधिवृक्ष' कहा जाता है। गौतम बुद्धने पीपल वृक्षके नीचे बैठकर ज्ञान प्राप्त किया था, इसीलिये उसे 'बोधिवृक्ष' कहा जाता है। बुद्धत्व प्राप्त करनेके पश्चात् भगवान् बुद्ध बिना पलक गिराये एक सप्ताह-तक उसे देखते रहे और उसके उपकारका मनन करते रहे; इसीलिये सभी बौद्ध उस बोधिवृक्षकी पूजा करते हैं।

आजकल पीपल, आम, बरगद, आँवला, सिरस, गूलर,

नीम, बेल, बाँस, देवदारु और चन्दनके वृक्ष पवित्र माने जाते हैं। इनमें पीपल सबसे पवित्र माना जाता है और इसकी सर्वाधिक पूजा होती है। इसके जड़से लेकर पत्र-पत्र-तकमें देवताओंका वास माना जाता है। यह ब्रह्मा, विष्णु एवं महेशका एकीभूत रूप समझा जाता है। भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने 'अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्' कहकर पीपलको अपना स्वरूप बताया है। बौद्ध-जनता इसे 'बोधिवृक्ष' कहकर पूजती है तथा हिंदू 'वासुदेव'। इसकी शाखा या पत्तीतक नहीं तोड़ी जाती। पीपल वृक्षके समान समादृत एवं पूजनीय अन्य एक भी वृक्ष संसारमें नहीं है। इसे तिब्बतमें 'लालचङ्ग' कहते हैं। जब इसके पास पहुँचा जाता है, तब सिरकी टोपी उतार दी जाती है और 'शोलो-शोलो' कहा जाता है। इसकी जड़पर दो-चार छोटे-छोटे सफेद पत्थरके टुकड़े डाल दिये जाते हैं। इसकी जड़को लाल रंगसे रँग डालते हैं। भारतकी भाँति वहाँ भी ऐसी भावना है कि जो व्यक्ति 'लालचङ्ग' वृक्षको काटता है या नष्ट करता है, उसके कोढ़ हो जाता है। बर्मा, लंका, स्याम आदि देशोंमें भी ऐसा ही माना जाता है। मुक्तिनाथ (धौलागिरि पर्वतसे ४० मील उत्तर) प्रदेशमें पीपल वृक्षको 'शोलबो' कहा जाता है और उसकी पूजा की जाती है। नेपालमें भी 'वंगल सिमा' (पीपल वृक्ष) का बड़ा सम्मान किया जाता है। लंका, बर्मा आदि बौद्ध देशोंमें इसे 'बोधिवृक्ष' कहकर पूजा जाता है।

पीपल वृक्ष औषधके काममें भी आता है। फोड़े-फुन्सी तो इसकी छालसे अच्छे हो ही जाते हैं, पत्तियोंसे भी बड़े-बड़े घाव तेलके साथ प्रयोग करके ठीक कर दिये जाते हैं। इसकी सबसे बड़ी उपयोगिता तो उस समय देखी जाती है, जब कि पीपलकी लकड़ीसे सर्प-दंशसे मरता हुआ व्यक्ति जीवन-लाभ कर लेता है। देहातोंमें प्रायः लोग सर्पद्वारा डसे हुए व्यक्तिसे पीपलकी लकड़ीके सहारे ही बात करके सर्पके आकार, गोत्र, डसनेका स्थान, कारण आदि सब जान लेते हैं। इसे 'पीपल जड़ी' नामसे पुकारते हैं। 'पीपल जड़ी' की विधि यह है—जब किसी व्यक्तिको साँप डसे और विष सारे शरीरमें प्रवेश कर गया हो, अन्य दवाएँ काम न करती हों, तब पीपलकी चार-चार अंगुलकी दो फुनगियाँ तोड़ लानी चाहिये और उनके छिलके-को छुड़ा देना चाहिये। इस कार्यको गुप्तरूपसे करना चाहिये, ताकि दूसरे लोग न जान पायें। सब लोग इसे 'जड़ी' ही समझें। उन्हें ले जाकर रोगीके दोनों कानोंके पास बलपूर्वक पकड़कर सटाना चाहिये। यदि कानमें करे तो और भी उत्तम है। किंतु ध्यान रहे कि रोगीके शरीर-का विष उस जड़ीको अपनी ओर खींचने लगता है और जड़ी विषको। यदि जड़ीको बलपूर्वक नहीं पकड़ा जायगा, तो जड़ी दोनों ओरसे विषद्वारा खींची जाकर रोगीके चमड़ेमें या कानमें धँसने लगेगी। उनके स्पर्श होते ही रोगी चिल्लाने लगेगा और जड़ी विष खींचने लगेगी। उस समय रोगीसे जो कुछ पूछा जायगा, वह बकने लगेगा। देहातोंमें केवल बकाकर ही जड़ी छुड़ा देते हैं और मन्त्रके प्रयोगसे विष दूर करते हैं। किंतु उचित तो यह है कि जब रोगी चिल्लाने लगे, तब वहाँसे लोगोंको हटा देना चाहिये; क्योंकि वह अपने पूर्वकृत कुकर्मोंको बकने लगता है। जब जड़ी सब विष खींच लेती है, तब उसका खिंचाव अपने-आप ही रुक जाता है। 'पीपल जड़ी' को सुखाकर भी रखा जा सकता है और समयपर प्रयोगमें लाया जा सकता है।

पीपलकी छालसे निकाले हुए रंगको ही काषाय रंग कहते हैं, जिससे भिक्षुओंका चीवर रँगा जाता है। पीपलकी छालसे रंग बनाना प्रत्येक भिक्षु जानता है। ऐसे ही आम, कटहल और बरगदसे भी।

पीपलकी हमारे जीवनसे बड़ी निकटता है। यह एक दीर्घ आयुवाला वृक्ष माना जाता है। लोगोंका विश्वास है कि पीपलमें ब्रह्माका वास है। इसीलिये उपनयन संस्कारके समय कहीं-कहीं इसकी पूजा की जाती है—पेड़ीपर चारों ओरसे सूत लपेटा जाता है। उच्चवर्गीय हिंदू-नारियाँ पीपलको वासुदेवका रूप मान सोमवती अमावस्याको इसकी पूजा करती हैं। वे इसकी जड़ोंपर जल ढालती हैं, तनेपर सिन्दूरके टीके लगाती हैं और १०८ बार इसकी परिक्रमा करती हैं। वृक्षके नीचे एकत्र स्त्रियोंमें जो वृद्धा होती है, वह अन्य सबको राजा निकुंजली और उसकी पत्नीकी कहानी सुनाती है।

राजस्थानमें पीपल और वटवृक्ष वैशाखके अन्तिम पक्षकी चतुर्दशीको पूजे जाते हैं। वैशाख मासमें प्रतिदिन पीपलको सींच देनेका भी पुराणोंमें बड़ा माहात्म्य लिखा है। स्त्रियोंका विश्वास है कि ये वृक्ष उनके सौभाग्यकी रक्षा करते हैं। जब कुलवधुएँ पीपलके पाससे निकलती हैं, तब उसे आदर देनेके लिये अपना घूँघट माथेसे चिबुक-

तक डाल लेती हैं। गर्भवती स्त्रियाँ पीपलके नीचेसे नहीं निकलतीं। दीर्घ आयुवाले पीपलको उनके द्वारा ऐसा आदर दिया जाता है, जैसे वह उनका कोई पुरातन पुरुष हो।

किसी हिंदूकी मृत्युके बाद पीपलकी शाखाओंमें घट बाँधनेका भी रिवाज है। विश्वास है कि परलोक जानेवाली आत्मा प्याससे कहीं व्याकुल न हो, इसलिये घटमें पानी रख दिया जाता है। सर मोनियर विलियम्सकी खोजसे विदित होता है कि वणिक् लोग बाजारमें पीपल वृक्षका होना ठीक नहीं समझते। विलियम्स महोदयके अनुसार ऐसा विश्वास कदाचित् इसलिये रूढ़ हो गया कि इस पवित्र वृक्षके नीचे वे किसी पदार्थका मनमाना दाम बताकर किसीको ठग नहीं सकते।

पीपलमें अनेक गुण हैं। जो गुणी होता है, लोग उसका आदर करते हैं। तुलसीका पौधा गुणोंका भंडार है। लोग उसे पूजते हैं। उसका पौधा घरमें लगाते हैं। पीपलसे भी लोग सांनिध्य प्राप्त करना चाहते हैं। पर पीपलका वृक्ष विशाल होता है। उसे घरमें नहीं लगाया जा सकता। उसे खुले मैदानमें लगाते हैं। दूर होनेके कारण रोज तो जल नहीं चढ़ाया जा सकता तथापि शनैश्चर-ग्रहादि-भय-शान्तिकी बात लेकर ऐसी परिपाटी चला दी गयी है कि सप्ताहमें कम-से-कम एक बार तो उसका सामीप्य प्राप्त हो ही जाय।

पीपलका कोई भी भाग बेकार नहीं है। वह अपनी विशालताके कारण महान् ही नहीं है, अनेक पशु-पक्षियोंका निवास-स्थल भी है। चिलचिलाती धूप और मूसलधार वर्षासे उत्पीड़ित मानवताका वह आश्रय-निकेतन है। इसकी हवा शुद्ध, शीतल एवं रोगनाशक होती है। पीपलकी लकड़ी, पत्तियोंके डंठल, हरे पत्ते एवं सूखी पत्तियाँ—सभी गुणकारी हैं और उनका उपयोग रोगोंके निवारणके हेतु किया जा सकता है। यहाँ कुछ रोग दिये जाते हैं, जिनमें पीपल अत्यन्त लाभकारी है—

रतौंधी—बहुत-से लोगोंको रातमें नहीं दिखलायी पड़ता। शामका झुट-पुटा फैलते ही आँखोंके आगे अँधियारा-सा छा जाता है। इसकी सहज औषध है—पीपल। पीपलकी लकड़ीका एक टुकड़ा लेकर गो-मूत्रके साथ उसे शिलापर पीसना चाहिये। इसका अञ्जन दो-चार दिन आँखोंमें लगानेसे रतौंधीमें लाभ होता है।

मलेरिया ज्वर—पीपलकी टहनीका दतुवन कई दिनोंतक करनेसे तथा उसको चूसनेसे मलेरिया बुखार उतर जाता है।

सर्प-विष—यद्यपि साँप काटनेकी 'लैक्सिन'-जैसी अद्भुत दवा ईजाद हो चुकी है, फिर भी पीपलके पत्तेके डंठलसे सर्प-विषका उपचार किया जाता है। मरीजको चित्त लिटाकर पीपलकी पत्तीका डंठल, जो ताजा हो, कानोंमें दिया जाता है। जब उसके द्वारा विषके चूसे जानेकी क्रिया शुरू होती है, तब मरीज चीत्कार करने लगता है; इसलिये उसके हाथ-पाँवको कसकर पकड़ा जाता है। दस-दस मिनट-पर डंठल तबतक बदला जाता है, जबतक रोगीको आराम न हो जाय। बिच्छूके विषका भी यही इलाज है।

कान-दर्द या बहरापन—पीपलकी ताजी हरी पत्तियोंको निचोड़कर उसका रस कानमें डालनेसे कान-दर्द दूर होता है। कुछ समयतक इसके नियमित सेवनसे कानका बहरापन भी छूटता है।

खाँसी और दमा—पीपलके सूखे पत्तेको खूब कूटना चाहिये। जब पाउडर-सा बन जाय, तब उसे कपड़ेसे छान लेना चाहिये। लगभग अठन्नी भर चूर्णको दो भर मधु मिलाकर एक महीना सुबह चाटनेसे दमामें स्पष्ट फायदा होता है, खाँसीकी तो कोई बात ही नहीं है।

धातु-दौर्बल्य और वन्ध्यत्व—पीपल वृक्षके फलमें अद्भुत गुण हैं। फलोंको सुखा, कूट और कपड़ छानकर रखना चाहिये। रोज पाव भर दूध चवन्नी भर चूर्ण मिलाकर पीनेसे धातु-दौर्बल्य दूर होता है। स्त्रीका वन्ध्यापन भी इससे नष्ट हो जाता है।

प्रदर और मासिकधर्मकी गड़बड़ी—उपर्युक्त विधिसे चूर्ण तैयार कर दूधके साथ नियमित रूपसे स्त्रियाँ प्रसवके बाद खायँ तो बहुत लाभ होता है। पुराना प्रदर जड़से मिट जाता है और मासिकधर्मका खुलासा न होना या समय-पर न होना भी दूर हो जाता है।

सर्दी और सिरदर्द—सर्दीका सिरदर्द तो मिनटोंमें छूमंतर हो जाता है। सिर्फ पीपलकी दो-चार कोमल पत्तियोंको चूसनेकी देर होती है। दो-तीन शाम ऐसा करनेसे सर्दी भी जाती रहती है।

पीपलमें और भी गुण हैं। इन्हीं गुणोंके कारण पीपल वन्दनीय और सेव्य हैं।

'भव भूतलको भेद, गगनमें
उठनेवाले शाल, प्रणाम।
छाया देकर पथिकोंका श्रम
हरनेवाले तुम्हें प्रणाम।

हमीद खाँ भाटी

(लेखक—श्रीरामेश्वरजी टाँटिया)

प्रत्येक गाँव या कस्बेमें कभी-कभी ऐसे व्यक्ति हो जाते हैं, जिनको बहुत समयतक लोग याद किया करते हैं और उनकी अमिट छाप जन-मानसपर अङ्कित हो जाती है। इस प्रकारके मनुष्य केवल धनी अथवा विद्वान् घरानोंमें ही पैदा होते हैं, ऐसी बात भी नहीं है।

बीकानेरके उत्तरमें 'पूगल' नामका इलाका है। कहा जाता है कि किसी समयमें यहाँ पद्मिनी स्त्रियाँ होती थीं। जो भी हो, आजकल तो यहाँ वीरान, रेतीली, बंजर भूमि है। पीनेके पानीकी कमी रहती है, इसलिये गाँव भी छोटे और दूर-दूर हैं।

यहाँके निवासियोंका मुख्य धंधा भेड़ पालना है। थोड़े-से ब्राह्मण और बनिये हैं, जो लेन-देन या दुकानदारीका काम करते हैं।

उनके सिवा यहाँ मुसल्मान गूजरोंकी पर्याप्त संख्या है, जिनके पास बेहतरीन किस्मकी गायें रहती हैं। वे इनका दूध-घी बेचकर अपना निर्वाह करते हैं। कहावत है—'सेवासे मेवा मिलता है।' शायद इसीलिये इनकी गायें दूध ज्यादा देती हैं और अच्छी नस्लकी बछड़े एवं बछियाँ भी।

सन् १९५१ में इस तरफ भयंकर अकाल पड़ा था। कुओंमें पानी सूख गया। घरोंमें जो थोड़ी-बहुत घास और चारा बचा हुआ था, उससे उस वर्ष किसी प्रकार पशुओंकी जान बची।

जब दूसरे वर्ष फिर वर्षा नहीं हुई और अकाल पड़ गया, तब यहाँके लोगोंकी हिम्मत टूट गयी। कलकत्तेकी 'मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी'ने दोनों वर्ष ही वहाँ राहत दी थी। मैं भी दूसरे वर्ष कुछ समयतक उस सिलसिलेमें वहाँ रहा।

हम देखते थे कि नित्य-प्रति हजारों स्त्री-पुरुष और बच्चे अपने ढोरोंको लिये हुए पैदल कोटा, बाराँ और माल्वाकी तरफ जाते रहते थे। ४-५ महीनोंके बाद वापस आनेकी सम्भावना रहती, इसलिये घरका सारा सामान भी गाय और बैलोंपर लदा हुआ रहता। घर छोड़कर जानेमें दुःख होना स्वाभाविक है और फिर, अभावोंसे घिरे हुए, बीहड़ लंबा रास्ता और वैशाखकी गर्मी। इसलिये सबके चेहरोंपर दुःख और शोककी स्पष्ट छाया नजर आती थी। रास्ता काटनेके लिये स्त्रियाँ भजन गाती हुई चलतीं। बच्चोंको संकट और कष्टके बारेमें खास जानकारी नहीं रहती, इसलिये उनको इस यात्रामें एक प्रकारका नयापन और आनन्द मिलता। उन लोगोंसे पूछनेपर प्रायः एक-सा ही उत्तर मिलता कि 'पानी, अनाज, घास और चारा मिलता नहीं; क्या तो हम खायँ और क्या इन पशुओंको खिलायें।'

हमें पूगलके गाँवोंके सीमान्तपर बहुत-से गाय-बैलोंके कंकाल और लाशें देखनेको मिलीं। पता चला कि वृद्ध बैलों और गायोंको उनके मालिक जंगलोंमें छोड़ गये। यहाँ भूख, प्यास और गर्मीसे इनके प्राण निकल गये।

कई बार तो सिसकती हुई गायें भी दिखायी दीं। उनके लिये यथाशक्ति चारे-पानीकी व्यवस्था की गयी; परंतु समस्या इतनी कठिन थी कि यह बंदोबस्त बहुत थोड़े पैमानेपर ही हो सका। यह भी पता चला कि अच्छी हालतके द्विजातिके लोगोंने भी पानी और चारेकी कमीके कारण बेकाम गाय-बैलोंको मरनेके लिये जंगलमें छोड़ दिया था।

ज्यादातर घरोंमें इस प्रकारकी घटनाएँ हो चुकी थीं, इसलिये आपसकी निन्दा-स्तुतिकी भी गुंजाइश नहीं थी।

यहाँके किसी गाँवमें मैं एक दिन दोपहरमें पहुँचा। धरती गर्मीसे जल रही थी। अंगारोंके समान तपती हुई रेतकी आँधी चल रही थी। तालाबों और कुँओंमें पानी कभीका सूख गया था। लोग १०–१५ मीलकी दूरीसे पानी लाकर प्यास बुझाते थे।

अधिकांश लोग गाँव और इलाका छोड़कर चले गये थे, कुछ ब्राह्मण और बनिये बचे हुए थे। यहीं मैंने हमीद खाँ भाटीके बारेमें सुना और उसके घर जाकर उससे मिला।

घर कच्चा था, पर साफ-सुथरा और गोबरसे लिपा-पुता। हमीद खाँकी उम्र ६५–७०' वर्षके लगभग थी। शरीरका

ढाँचा देखकर पता लगा कि किसी समय काफी बलिष्ठ रहा होगा। अब तो हड्डियाँ निकल आयी थीं, चेहरेपर भयंकर उदासी छायी हुई थी।

दुआ-सलामके बाद मैंने पूछा—'खाँ साहब! गाँवके प्रायः सारे लोग चले गये हैं, फिर आप क्यों यहाँ इस प्रकारकी किल्लतमें अकेले रह रहे हैं?

वह कुछ देरतक तो मेरी तरफ फटी-फटी आँखोंसे देखता रहा, फिर कहने लगा—'अल्लाह मालिक है, उसका ही भरोसा है। कभी-न-कभी तो वर्षा होगी ही। बेटे और बहुएँ बच्चों और धन (यहाँ गाय-बैल, ऊँट आदिको धन कहते हैं) को लेकर एक महीना पहले ही मालवा चले गये हैं। मुझे भी साथ ले जानेकी बहुत जिद्द करते रहे; पर भला, आप ही बताइये—अपनी धौली और भूरी दोनोंको छोड़कर कैसे जाऊँ? इन दोनोंसे तो एक कोस भी नहीं चला जाता (धौली और भूरी इसकी बड़ी गायें थीं, जिनमें एक लँगड़ी और दूसरी बीमार थी)।

'आज इनकी इस प्रकारकी हालत हो गयी है, नहीं तो दोनोंने न जाने कितने नाहर-भेड़ियोंसे मुठभेड़ ली है। दूध भी इनके बराबर गाँवमें किसी गायके नहीं था। ३-४ सेर तो बछड़े ही पी जाते, फिर भी १०-१२ सेर प्रत्येकका हमारे लिये बच जाता।

'ये दोनों मेरे घरकी ही बेटियाँ हैं; जिस वर्ष मेरे छोटे लड़के फत्तेका जन्म हुआ था, उसके लगभग ही ये दोनों जन्मी थीं। बीस वर्षतक हमलोग इनका दूध पीते रहे, अब आप ही बताइये, बुढ़ापेमें इन्हें कहाँ निकाल दूँ? भला, कोई अपनी बहन-बेटीको घरसे थोड़े ही निकाल देता है।' बातें करते हुए उसकी आवाज रोवासी हो गयी थी; देखा उसकी धुँधली आँखोंसे टप-टप आँसू गिर रहे हैं।

बातें तो और भी करना चाहता था; परंतु इतनेमें सुनायी दिया कि बाहरके सहनमें धौली और भूरी रँभा रही हैं, शायद भूखी या प्यासी होंगी। हमीद खाँ उठकर बाहर चला गया।

गाँवके मुखिया पं० बंशीधरके साथ ८-१० व्यक्ति रातमें मिलनेको आये। उनके कहनेके अनुसार ५० वर्षोंमें ऐसा भयंकर अकाल नहीं पड़ा था।

उन्होंने कहा—'हमीद खाँ भी जिद्दी कम नहीं है। अपने लिये दो जून खाना नहीं जुटा पाता, पर इन दोनों गायोंपर जान देता है। दिनमें धूप बहुत हो जाती है, इसलिये दो बजे रातमें उठकर ५ मीलपरके तालाबसे दोनोंके लिये एक मटका पानी लाता है। घरवाले जो अनाज छोड़कर गये थे, उसमेंसे बहुत-सा बेचकर इनके लिये चारा और भूसा खरीद लिया। जब वह चुक गया, तब अपना मकान ऊँचे ब्याजपर गिरवी रखकर और चारा लिया है।'

गर्मीके मौसममें भी इस तरफ रातें ठंडी हो जाती हैं, परंतु मुझे नींद नहीं आ रही थी। सोच रहा था, क्या वास्तवमें ही हमीद खाँ मूर्ख और जिद्दी है। बातचीतसे तो ऐसा नहीं लग रहा था। हाँ, एक बात समझमें नहीं आयी—वह तो मुसलमान है, जिसके लिये गौ माता नहीं है; फिर क्यों इन दो बेकाम गायोंके पीछे नाना प्रकारके कष्ट सहकर, तिल-तिल करके स्वयं मृत्युकी तरफ अग्रसर हो रहा है। अपना एकमात्र मकान इनके चारे-पालेके लिये गिरवी रख दिया है। थोड़े दिनों बाद मूल और ब्याज बढ़कर इतना होगा कि चुकाना असम्भव हो जायगा। जब उसके बाल-बच्चे मालवासे थके-हारे वापस आयेंगे, तब उन्हें शायद अपना यह पैतृक घर छोड़ देना पड़ेगा।

जानेसे पहले एक बार फिर हमीद खाँसे मिलनेकी इच्छा हुई। बहुत सुबह वहाँ जाकर देखा कि वह धौली और भूरीके शरीरपर तन्मय होकर हाथ फेर रहा है और वे दोनों बड़ी ही करुण दृष्टिसे उसकी तरफ देख रही हैं—शायद कह रही होंगी कि 'सब गाँव छोड़कर चले गये, फिर तुम क्यों इस प्रकार भूखे-प्यासे रहकर मृत्युके मुखमें जा रहे हो। हमें अपने भाग्यपर छोड़कर बच्चोंके पास चले जाओ।'

सोसाइटीकी तरफसे थोड़ी-बहुत व्यवस्था करके मन-ही-मन उस अपढ़ मुसलमानको प्रणाम करके भारी मनसे उस गाँवसे रवाना हुआ। १५ वर्ष बाद भी हमीद खाँका वह गमगीन चेहरा आजतक भुला नहीं पाया हूँ।

श्रीभगवन्नाम-जपके लिये विनीत प्रार्थना

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्। कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥

परम कृपालु प्रभुके पवित्र नाम-स्मरणको हमारे शास्त्रोंमें कलियुगका मुख्य धर्म माना है। नामके अतिरिक्त अन्य जो-जो धर्म हैं, वे जिनसे बन सकें, उनके लिये हैं; परंतु कल्याणकारी प्रभुके मङ्गल-नामका स्मरण, जप एवं कीर्तन तो सभीके लिये है। नाम-स्मरणमें न आयुका प्रश्न है न योग्यताका, न देशका प्रश्न है न कालका, न वर्णका प्रश्न है न आश्रमका, न धर्मका प्रश्न है न सम्प्रदायका, न स्त्रीका प्रश्न है न पुरुषका और न इसमें किसी प्रकारके भौतिक उपकरणोंकी ही अपेक्षा है। पृथ्वीके एक कोनेसे दूसरे कोनेतक, बालकसे वृद्धतक—सभी धर्म, सम्प्रदाय, वर्ण एवं आश्रमोंके नर-नारी नामका आश्रय ले सकते हैं।

परम श्रद्धेय नित्यलीलालीन हमारे भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी श्रीभगवन्नामपर जीवनके आरम्भसे ही बड़ी रुचि थी। वे बाल्यकालमें ही भगवन्नामका जप करते थे। सन् १९१६में जब वे अपनी क्रान्तिकारी प्रवृत्तियोंके कारण तत्कालीन अंग्रेजी सरकारद्वारा पकड़ लिये गये और कलकत्तेकी अलीपुर जेल (डुलण्डा हाउस) में रखे गये, तब वहाँ उन्हें भगवान्‌के नाम-जपकी महिमाका स्मरण हो आया और उन्होंने 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥'—इस षोडश नामके मन्त्रका जप किया। पीछे शिमलापालमें २१ मास नजरबंद रहनेकी अवस्थामें भी वे बराबर इसी नाम-मन्त्रके जपकी साधनामें संलग्न रहे। उस समय नाम-जपके प्रति उनकी रुचि इतनी अधिक थी कि जब कोई व्यक्ति उनसे मिलने आता, तब उन्हें ऐसा लगता मानो कोई 'बाधा' आ गयी हो। वे सोचते कि व्यक्तिके आनेसे व्यवहारके नाते उनसे बोलना पड़ेगा और बोलनेसे नामका जप उतने समयके लिये छूट जायगा, जो उन्हें सह्य नहीं था।

उनकी यह नाम-साधना जीवनभर चलती रही। मन्त्र भी उन्होंने परिवर्तित नहीं किया—जीवनभर षोडश मन्त्रका जप करते रहे। कारण स्पष्ट है कि वर्तमान समयके लिये भगवन्नाम-स्मरणको ही श्रीभाईजी एकमात्र साधन मानते थे। एक स्थानपर उन्होंने लिखा है—'इस समय नामके सिवा संसार-सागरसे पार कर देनेवाल दूसरा कोई भी सहज साधन मुझे दृष्टिगोचर नहीं होता। ×××××× मैं भगवन्नामकी महिमा क्या लिखूँ? मैं तो नामका जिलाया जी रहा हूँ।' एक बार ऋषिकेशके सत्सङ्गमें भी उन्होंने कहा था—'मैं भगवान्‌के नामके जपपर जोर क्यों देता हूँ? इसका कारण यही है कि मैंने जीवनभर यही किया है। जो कुछ भी अच्छी बात जीवनमें आयी है, वह नाम-जप एवं भगवत्कृपाके प्रतापसे। पारमार्थिक जीवनका आरम्भ नाम-जपसे हुआ और जीवनमें साधना भी इसीकी हुई है।'

श्रीभाईजीका अनुभव था कि भगवन्नामकी साधनामें भगवान्‌की सहायता बराबर मिलती रहती है। नाम-साधनामें लगे एक संन्यासी महात्माको आश्वस्त करते हुए उन्होंने कहा था—'भगवान् भले ही दूसरी प्रार्थना सुननेमें थोड़ी देर भी कर दें, पर यदि कोई सचमुच चाहे कि उसके द्वारा निरन्तर नाम-जप हो और इसके लिये वह भगवान्‌से प्रार्थना करे तो यह प्रार्थना निश्चय ही तत्क्षण पूरी हो जायगी।'

श्रीभाईजी स्वयं तो नाम-परायण थे ही, वे जगत्‌के जीवोंको भी नाम-परायण करना चाहते

थे। जीवमात्र सुख चाहता है—अटल, अखण्ड और आत्यन्तिक सुख चाहता है और इसकी प्राप्तिका कलियुगमें एकमात्र साधन भगवन्नामका आश्रय है। अतएव 'कल्याण' प्रथम वर्षके ७वें अङ्कमें अर्थात् माघ, संवत् १९८३ में उन्होंने सर्वप्रथम अपना भगवन्नामके प्रचारका उद्घोष किया और उसी वर्षकी फाल्गुन पूर्णिमातक अर्थात् २ मासके अल्प समयमें षोडश मन्त्रका साढ़े तीन करोड़ जप करनेकी प्रार्थना 'कल्याण' के प्रेमी पाठक-पाठिकाओंसे की। सच्चे नामप्रेमीकी प्रेरणाका प्रभाव होना ही था; 'कल्याण'प्रेमियोंने नाम-जपमें इतना उत्साह प्रदर्शित किया कि साढ़े तीन करोड़ मन्त्र-जपके स्थानपर लगभग पैंतीस करोड़ मन्त्रोंका जप हुआ। इसके पश्चात् तो श्रीभाईजी नाम-प्रचारपर तुल गये और उन्होंने 'कल्याण'का प्रथम विशेषाङ्क (अर्थात् श्रावण १९८४ का अङ्क) 'श्रीभगवन्नामाङ्क'के नामसे प्रकाशित किया, जिसमें नाम-महिमापर शास्त्रोंके वचन एवं संतोंके अनुभवपूर्ण लेख प्रकाशित कर उन्होंने पाठकोंको नाम-परायण होनेकी विशेष प्रेरणा दी। इस अङ्कसे 'कल्याण'की प्रतिष्ठाका सिक्का जम गया। इस अङ्कके पठन-मननसे सहस्रों व्यक्ति नाम-परायण हुए। इसके अनन्तर श्रीभाईजी प्रतिवर्ष 'कल्याण'में नाम-जपके लिये प्रार्थना प्रकाशित करने लगे और 'कल्याण'के प्रेमी पाठक-पाठिका बड़े उत्साह एवं प्रेमसे नाम-जप करने लगे। इतना ही नहीं श्रीभाईजी अपने सत्सङ्गमें नाम-जपपर विशेष जोर देते थे। व्यक्तिगतरूपसे साधना पूछनेवालोंको भी वे नाम-जप अवश्य बताते थे।

'कल्याण'में भगवन्नाम-जपकी प्रार्थना प्रकाशितकर लोगोंको नाम-परायण करनेके प्रयासका देशके सभी संत-महात्माओं, विद्वानों एवं धार्मिक प्रवृत्तिके जन-नेताओंने हार्दिक स्वागत किया। श्रीभाईजीने जून १९७० में एक सज्जनको लिखा था—

"गोरखपुर आने (अर्थात् अगस्त १९२७) के पश्चात् किसी कामसे मैं बम्बई गया था और वहाँसे रतनगढ़ जा रहा था। उस समय अहमदाबाद होकर गाड़ी जाती थी। बम्बईसे चलकर जब गाड़ी बदलनेके लिये मैं अहमदाबाद उतरा, तब गाँधीजीके दर्शनार्थ उनके आश्रमपर गया। अहमदाबादके निकट ही गाँधीजीका साबरमती आश्रम था। मैं आश्रमपर पहुँचा। मेरे हाथमें 'कल्याण' का अङ्क था। संयोगकी बात, उस अङ्कमें 'भगवन्नाम-जप' की प्रार्थना छपी थी। गाँधीजीने 'कल्याण'का अङ्क अपने हाथमें ले लिया और उसे देखने लगे। 'भगवन्नाम-जपके लिये विनीत प्रार्थना' लेख देखकर पूछने लगे—'यह क्या है?' मैंने बताया कि किस प्रकार 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥' भगवान्के इस षोडश नाम-मन्त्र-जपके लिये प्रतिवर्ष 'कल्याण'में प्रार्थना प्रकाशित की जाती है और किस प्रकार पाठक-पाठिकाएँ बड़े उत्साहसे नाम-जप करती हैं। इतना सुनते ही पूछने लगे—'कितना जप हो जाता है?' मैंने कहा—'कई करोड़ हो जाता है।' इसपर वे बड़े प्रसन्न हुए और बोले—'तुम बड़ा अच्छा करते हो। इसमें १०-१५ व्यक्ति भी यदि सच्चे भावसे जप करते होंगे तो उनका उद्धार हो जायगा।' फिर बोले—'देखो, मैं भी नाम-जप करता हूँ', और उन्होंने गोल तकियेके नीचेसे तुलसीकी माला निकाली और दिखाते हुए बोले—'इसीके सहारे रात्रिके समय जप करता हूँ।' संयोगसे उनकी वह माला टूटी हुई थी और मेरी जेबमें तुलसीकी एक नयी माला थी। मेरे मनमें आया—इनकी टूटी मालाकी जगह नयी माला बदल दूँ। मैंने बापूसे प्रार्थना की—'बापू! आपकी यह माला तो टूट गयी है; इसे आप मुझे दे दीजिये और आप नयी माला ले लीजिये।' और मैंने अपनी जेबमेंसे नयी माला निकालकर उनकी ओर बढ़ायी। बापू बड़े विनोदी थे। उन्होंने बड़ा प्रेमभरा विनोद किया, बोले—'तुम मुझे माला देने आये हो? अर्थात् मुझे चेला बनाने आये हो?' मैं तथा पास बैठे सब लोग हँस पड़े। मैंने कहा—'बापू! माला टूट गयी है, इससे बदलना चाहता था; आपको माला मैं क्या दूँगा।' मेरे उत्तरसे वे बड़े प्रसन्न हुए; फिर बोले—'मुझे नयी माला दोगे तो तुम्हें साथमें कुछ दक्षिणा भी देनी

होगी। दानके साथ दक्षिणा भी होती है।' मैंने कहा—'आपकी कृपा है; बोलिये तो क्या देना पड़ेगा?' तब उन्होंने गम्भीर होकर कहा—'तुम अभी जितना नाम-जप करते हो, उसके सिवा एक माला जप और अधिक कर लिया करो। तब हम तुम्हारी माला लेंगे।' मैंने कहा—'क्या हर्ज है।' बापूने प्रसन्नतापूर्वक नयी माला रख ली। उस दिनसे मैं अपने जपके अतिरिक्त एक माला जप और करता हूँ। आजतक वह नियम अक्षुण्णरूपमें निभता चला आ रहा है।''

इस प्रकार हम देखते हैं, श्रीभाईजीने जगत्के जीवोंके उद्धारके लिये सहज एवं अमोघ साधन श्रीभगवन्नाम-जपके प्रचार-प्रसारके लिये जीवनभर प्रयत्न किया और इस कार्यमें उन्हें बड़ी सफलता मिली। इधर कई वर्षोंसे बीच-बीचमें भगवन्नाम-जपकी प्रार्थना श्रीभाईजी मेरे नामसे प्रकाशित करने लगे थे। नाम-प्रेमी होते हुए भी मेरा जीवन नाम-परायण नहीं है। इससे नाम-जपकी प्रार्थना मेरे नामसे प्रकाशित होनेमें मुझे बड़ा संकोच होता था; पर जब श्रीभाईजी अपनी लिखी प्रार्थनाके नीचे मेरा नाम बैठाकर उसे प्रकाशनार्थ भेज देते थे, तब मैं उसे अपने लिये उनका आशीर्वाद मानकर स्वीकार कर लेता था। आज हमारा परम दुर्भाग्य है कि स्नेहकी मूर्ति श्रीभाईजी, जिनका तन-मन-प्राण श्रीभगवन्नाममय हो गया था, प्रत्यक्ष रूपमें हमारे बीच नहीं हैं। अतएव इस वर्ष श्रीभगवन्नाम-जपके लिये प्रार्थना करनेमें सर्वथा साधनहीन मुझे बड़ा संकोचका अनुभव हो रहा है, पर परम श्रद्धेय श्रीभाईजीद्वारा प्रचालित इस नाम-प्रचारकी साधन-परिपाटीको बराबर चालू रखना अपना कर्तव्य मान 'कल्याण'के भगवद्-विश्वासी एवं नाम-प्रेमी पाठक-पाठिकाओंसे प्रार्थना करता हूँ कि वे प्रतिवर्षकी भाँति कृपापूर्वक स्वयं प्रेमके साथ अधिक-से-अधिक नाम-जप करें तथा प्रेमपूर्वक प्रेरणा देकर अपने स्वजनों, मित्रों, बान्धवों, पड़ोसियों आदिसे करायें। इसमें उनका तथा जो इस प्रार्थनाको स्वीकार करेंगे, उन सबका परम हित है। साथ ही वे सभी नाम-प्रेमी सज्जन मुझे आशीर्वाद दें, जिससे मेरा जीवन भी नाम-परायण हो जाय। गत वर्षकी भाँति इस वर्ष भी—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

इस उपर्युक्त १६ नामवाले परम पवित्र मन्त्रके २० (बीस) करोड़ जपके लिये ही प्रार्थना की जाती है। नियमादि इस प्रकार हैं—

१–यह श्रीभगवन्नाम-जप जपकर्ताके, धर्मके, विश्वके—सबके परम कल्याणकी भावनासे ही किया-कराया जाता है।

२–इस वर्ष इस जपका समय कार्तिक शुक्ला १५, मङ्गलवार, सं० २०२८ (२ नवम्बर १९७१)से आरम्भ होकर चैत्र शुक्ला १५, गुरुवार, सं० २०२९ (३० मार्च, १९७२) तक रहेगा। जप इस समयके बीच किसी भी तिथिसे करना आरम्भ किया जा सकता है, पर इस प्रार्थनाके अनुसार उसकी पूर्ति चैत्र शुक्ला १५, सं० २०२९ को समझनी चाहिये। पाँच महीनेका समय है। उसके आगे भी जप किया जाय, तब तो बहुत ही उत्तम है, करना चाहिये ही। देरसे जपकी सूचना मिले, तो जब मिले, तभीसे जप शुरू कर देना चाहिये।

३–सभी वर्णों, सभी जातियों और सभी आश्रमोंके नर-नारी, बालक-वृद्ध-युवा इस मन्त्रका जप कर सकते हैं।

४–एक व्यक्तिको प्रतिदिन 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥'—इस मन्त्रका कम-से-कम १०८ बार (एक माला) जप तो अवश्य करना चाहिये। अधिक कितना भी किया जा सकता है।

५-संख्याकी गिनती किसी भी प्रकारकी मालासे, अँगुलियोंपर अथवा किसी अन्य प्रकारसे रक्खी जा सकती है।

६-यह आवश्यक नहीं है कि अमुक समय आसनपर बैठकर ही जप किया जाय। प्रातःकाल उठनेके समयसे लेकर रातको सोनेतक चलते-फिरते, उठते-बैठते और काम करते हुए—सब समय इस मन्त्रका जप किया जा सकता है।

७-बीमारी या अन्य किसी कारणवश जप न हो सके और क्रम टूटने लगे तो किसी दूसरे सज्जनसे जप करवा लेना चाहिये। पर यदि ऐसा सम्भव न हो तो स्वस्थ होनेपर या उस कार्यकी समाप्तिपर प्रतिदिनके नियमसे अधिक जप करके उस कमीको पूरा कर लेना चाहिये।

८-घरमें सौरी-सूतकके समय भी जप किया जा सकता है।

९-स्त्रियाँ रजोदर्शनके चार दिनोंमें भी जप कर सकती हैं, किंतु इन दिनोंमें उन्हें तुलसीकी माला हाथमें लेकर जप नहीं करना चाहिये। संख्याकी गिनती किसी काठकी मालापर या किसी और प्रकारसे रख लेनी चाहिये।

१०-इस जप-यज्ञमें भाग लेनेवाले भाई-बहिन ऊपर दिये हुए सोलह नामोंके मन्त्रके अतिरिक्त अपने किसी इष्ट-मन्त्र, गुरु-मन्त्र आदिका भी जप कर सकते हैं। पर उस जपकी सूचना हमें देनेकी आवश्यकता नहीं है। हमें सूचना केवल ऊपर दिये हुए सोलह नामोंके मन्त्र-जपकी ही दें। लिखित भगवन्नाम हमें नहीं भेजने चाहिये; कारण, हमारे यहाँ उनके पूजन आदिकी व्यवस्था नहीं है।

११-सूचना भेजनेवाले लोग जपकी संख्याकी सूचना भेजें, जप करनेवालोंके नाम आदि भेजनेकी भी आवश्यकता नहीं है। सूचना भेजनेवालोंको अपना नाम-पता स्पष्ट अक्षरोंमें अवश्य लिखना चाहिये।

१२-संख्या मन्त्रकी होनी चाहिये, नामकी नहीं। उदाहरणके रूपमें यदि कोई 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥' इस मन्त्रकी एक माला प्रतिदिन जपे तो उसके प्रतिदिनके मन्त्र-जपकी संख्या एक सौ आठ (१०८) होती है, जिनमेंसे भूल-चूकके लिये आठ मन्त्र बाद देनेपर १०० (एक सौ) मन्त्र रह जाते हैं। अतएव जिस दिनसे जो भाई-बहिन मन्त्र-जप आरम्भ करें, उस दिनसे चैत्र शुक्ला पूर्णिमातकके मन्त्रोंका हिसाब इसी क्रमसे जोड़कर सूचना भेजनी चाहिये।

१३-सूचना प्रथम तो मन्त्र-जप आरम्भ करनेपर भेजी जाय, जिसमें चैत्र पूर्णिमातक जितना जप करनेका संकल्प किया गया हो, उसका उल्लेख रहे तथा दूसरी बार चैत्र पूर्णिमाके बाद; जिसमें जप प्रारम्भ करनेकी तिथिसे लेकर चैत्र पूर्णिमातक हुए कुल जपकी संख्या हो।

१४-जप करनेवाले सज्जनोंको सूचना भेजने-भिजवानेमें इस बातका संकोच नहीं करना चाहिये कि जपकी संख्या प्रकट करनेसे उसका प्रभाव कम हो जायगा। स्मरण रहे—ऐसे सामूहिक अनुष्ठान परस्पर उत्साह-वृद्धिमें सहायक बनते हैं।

१५-सूचना संस्कृत, हिंदी, राजस्थानी, मराठी, गुजराती, बंगला, अंग्रेजी अथवा उर्दूमें भेजी जा सकती है।

१६-सूचना भेजनेका पता—'नाम-जप-विभाग', 'कल्याण'-कार्यालय, पो० गीतावाटिका (गोरखपुर)

प्रार्थी—चिम्मनलाल गोस्वामी

परमार्थ-पत्रावली

(ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पुराने पत्र)

(१)

सप्रेम हरिस्मरण । आपने साधनके सम्बन्धमें कुछ बातें पूछी हैं। उनके विषयमें संक्षेपमें इस प्रकार समझना चाहिये—

अश्रुपात आदिको महत्त्व देकर अपनेमें विशेषताका आरोप करना उस अवस्थाके सुखका उपभोग करना है। यह कीर्तन और ध्यान आदिमें शिथिलता उत्पन्न करता है। अतः इससे साधकको सम्बन्ध नहीं जोड़ना चाहिये, अर्थात् उपरत रहना चाहिये। नहीं तो दिखाऊपन आ सकता है।

भगवत्प्रेमकी तीव्र लालसा, अन्य सबके प्रति ममता और आसक्तिका त्याग—यही शीघ्र प्रेम-प्राप्तिका उपाय और विधि है। विषयोंमें प्रेम रहते हुए भगवान्से प्रेम कैसे हो सकता है, विचार करें। सुख-भोगकी आशाका त्याग करना ही होगा।

परमात्माका यथार्थ स्वरूप मन, वाणी और बुद्धिसे अतीत है। अतः वह लिखकर या कहकर नहीं समझाया जा सकता। उसे यथार्थ जानना भी किसी वस्तुको जान लेनेकी भाँति नहीं है, वह बड़ा विलक्षण है। जो उसे जानता है, वह भी उसको समझा नहीं सकता।

भगवान्में अनन्य प्रेम होनेसे ही आसक्तिका सर्वनाश हो सकता है। अतः सब प्रकारके भोगोंकी आशाका त्याग करके एकमात्र भगवान्का आश्रय लेनेसे ही उनका प्रेम मिल सकता है और यही समस्त दोषोंके नाशका सरल उपाय है।

भगवान्में श्रद्धा और अनुराग हो जानेपर भगवान्में त्रुटिकी कल्पना नहीं रहती; अपनेमें ही त्रुटि अनुभव होती है। अनुरागकी तो एक ऐसी विचित्र स्थिति है कि वह जिसमें होता है, उसे आगे-से-आगे अपनी कमी दिखायी देती है; क्योंकि प्रेम अनन्त है, उसकी पूर्ति, क्षति और अभाव नहीं होता। वह तो बढ़ता ही रहता है। साथ-ही-साथ उसकी भूख भी बढ़ती ही रहती है।

भगवान्में स्वाभाविक प्रेम एकमात्र विश्वासपूर्वक भगवान्को अपना मानकर उनपर अपनेको छोड़ देनेसे ही हो सकता है।

आपका मन गीता, रामायण और भागवत—तीनोंको पढ़नेका रहता है, यह बड़ी अच्छी बात है। तीनोंका कहना एक है। तीनों ही भगवान्पर विश्वास करनेके लिये, उनको अपना माननेके लिये और उनकी शरणमें जानेके लिये कहते हैं। अतः किसी एककी बात मान लेनेपर तीनोंकी मानी हुई हो जायगी। उनमें पढ़े हुएके अनुसार अपना जीवन बनाना चाहिये। शास्त्रोंका विस्तार तो विभिन्न प्रकृति, रुचि और योग्यताके व्यक्तियोंको समझानेके लिये है। अपने उद्धारके लिये तो किसी एक श्लोकका उपदेश भी बहुत है।

भगवान्से प्रेम न होनेके कारण जीवन व्यर्थ जा रहा है, यह विश्वास होता तो भगवान्से प्रेम हो ही जाता। पहले भगवान् मिलें और फिर आप भगवान्में विश्वास करें, यह सम्भव नहीं। भगवान् तो प्राप्त ही हैं। देरी तो विश्वास और प्रेमकी है।

रासपञ्चाध्यायीके अनुसार साधन करनेकी नकल नहीं की जा सकती। कामी पुरुष कर भी नहीं सकता; क्योंकि वह उसका अधिकारी नहीं है। उसके अनुसार साधन उसीका होता है और वह अपने-आप होता है, जिसका काम उस कथाके सुनने और पढ़नेमात्रसे सदाके लिये भस्म हो जाता है और जिसका जीवन गोपियोंकी भाँति श्रीकृष्णके विशुद्ध प्रेमसे ओतप्रोत हो।

'माता, पिता और भाई आदि गलती करते हैं; मैं गलती नहीं करता। मैं अच्छा हूँ, वे बुरे हैं—'यह जिसका भाव है, वह तो अपनेमें गुणका अभिमानी है। भगवान्के प्यारे भक्तमें ऐसा नहीं होता। वह परदोष-दर्शनमें अपना समय नष्ट नहीं करता।

अपना उद्धार चाहनेवालेको उचित है कि जो कुछ पढ़ा और समझा है, उसके अनुरूप अपना जीवन बनानेके लिये तत्पर हो जाय। केवल पढ़ना तो साधनमें विघ्नकारक भी हो सकता है। जिसको आप 'जिज्ञासा'

कहते हैं, वह शङ्का है या दिलबहलाव—क्या पता है। वास्तवमें जिज्ञासा जाग्रत् हो जाय तो साधनका मार्ग प्रशस्त हो जाता है। शेष भगवत्कृपा।

(२)

सप्रेम हरिस्मरण। आपके प्रश्नोंका उत्तर इस प्रकार समझना चाहिये—

१. श्रीकृष्ण-प्राप्तिकी इच्छा रखनेवालेको चाहिये कि दूसरी सब इच्छाओंका सर्वथा त्याग कर दे। जो कुछ करे, श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके लिये ही।

२. मानव-धर्म सभी वर्णोंका 'स्वधर्म' है, वह 'परधर्म' नहीं है। जो अपनेको भगवान्‌का भक्त मानता है, साधक मानता है, भगवद्भक्तिके सहकारी सभी धर्म उसके 'स्वधर्म' हैं। इस दृष्टिसे तामसी वस्तुओंके सेवनका त्याग परधर्म नहीं, किंतु स्वधर्म ही है। धर्मशास्त्रोंने शौच आदिके नियम शूद्रोंके लिये भी बताये हैं। तामसी वस्तुओंका सेवन करना किसी भी वर्गका 'स्वधर्म' नहीं है।

३. सहारा तो भगवान्‌का ही लेना चाहिये, जो कभी नहीं टूटता। व्यक्ति और वस्तुओंका सहारा लेना तो बेसमझी है; क्योंकि ये सदा साथ रहनेवाले नहीं हैं। सत्पुरुषोंको नित्यरूपमें अनुभव करके उनका सहारा लेना तो साधन है, पर उनके शरीरमात्रका सहारा लेना या उसके अभावमें अपनेको आश्रयहीन मान लेना उचित नहीं। संत नित्य हैं; चाहे शरीर रहे, चाहे न रहे।

४. आपको समझना चाहिये कि 'भगवान्‌के सिवा मेरा और कोई नहीं है।' भगवान्‌के नाते सभी आपके हैं, नहीं तो कोई भी आपका नहीं है।

५. भगवान्‌में मन उलझानेका साधन उनमें श्रद्धा और प्रेम करना तथा विश्वासपूर्वक उनको अपना मान लेना एवं अपनेको उनके सर्वथा समर्पण कर देना है।

६. पूज्यभावपूर्वक विश्वासको 'श्रद्धा' कहते हैं। 'विश्वास' दृढ़ मान्यताको कहते हैं। 'प्रेम' उस प्रियताको कहते हैं, जिसके लिये सब प्रकारके सांसारिक सुखोंका त्याग अनायास ही हो जाता है। जिसके एकमात्र भगवान् ही अपने और प्रिय हैं, जिसका जीवन भगवान्‌के लिये है, वह भगवान्‌का प्रेमी कहा जा सकता है।

७. भक्त अपने इष्टदेवका एक रूप अवश्य मानता है, पर उसे इस बातमें भी संदेह नहीं है कि मेरे इष्टमें अनेक रूप धारण करनेकी शक्ति है।

८. कृष्णप्रेम चाहनेवालेको अवश्य मिलता है, पर दूसरी चाह रहते हुए वह प्रेम बिखरा रहता है, अनन्य नहीं होता।

९. भगवान्‌का विग्रह अवश्य ही नित्य है। पर पत्थर या कागज कभी नित्य नहीं हो सकते। उनका क्षीण होना, टूटना-फूटना तो प्राकृत नियमानुसार अनिवार्य है। उनके टूटने-फूटनेसे भगवान्‌के और विग्रहोंका कुछ भी नहीं बिगड़ता।

१०. इन्द्रियोंकी बात न मानकर, सुख-लोलुपताका त्याग करके बुद्धिके ज्ञानका आदर करनेसे ही संयम निभ सकता है, विषय-लोलुपका नहीं निभ सकता।

११. भगवान्‌की कथा सुनने और पढ़नेका जो माहात्म्य श्रीतुलसीदासजीने लिखा है, वह सत्य है। पर किसके लिये? जिसका श्रद्धासहित विश्वास हो; जिस भगवान्‌की वह कथा सुनता है, उनके होनेमें विश्वास हो, उनके चरित्रमें विश्वास हो और मनमें उनके प्रति एक सम्बन्धकी भावना हो कि 'वे मेरे हैं और मैं उनका हूँ; उनके सिवा मेरा कोई नहीं है।'

१२. आप यदि सचमुच साधन-पथपर अग्रसर होना चाहते हैं तो मान-बड़ाई और प्रतिष्ठाके फंदेमें न पड़िये। प्रचार करनेकी वासनाका त्याग करके भजन-स्मरण-कीर्तन—सब कुछ अकेलेमें तथा निष्कामभावसे कीजिये।

१३. श्रीकृष्ण-नामका मन-ही-मन स्मरण करना बहुत अच्छा है। इसके करनेमें थकावटका अनुभव होनेका कारण तो यही हो सकता है कि प्रेमकी कमी है तथा स्मरण सम्बन्धयुक्त और स्वाभाविक नहीं है। नहीं तो थकावटका प्रश्न ही नहीं आता। स्मरणमें रुचि बढ़नेका उपाय श्रीकृष्णमें अनन्य प्रेम और अपनत्व ही है। शेष भगवत्कृपा।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

सेवाका आदर्श

नित्यलीलालीन परम श्रद्धेय श्रीभाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी सेवा-भावना प्रसिद्ध है। सेवा उनके प्राण थे, उनका जीवन था, उनका सहज स्वभाव था।

श्रीभाईजीके पास अपना एक पैसा भी नहीं था, पर इन सेवा-कार्योंके लिये उन्हें कभी धनकी कमी नहीं रही। गोरखपुरके सेंट एण्ड्रूज कालेजके प्रिन्सिपल महोदय मिस्टर चाकोने एक बार अपने कालेजके महोत्सवमें श्रीभाईजीका परिचय देते हुए ईसाई धर्मके प्रमुख व्यक्तियोंके सामने कहा था—"श्रीपोद्दारजीको सभी 'भाईजी'के नामसे पुकारते हैं। मैंने अपने अनुभवसे पाया कि वे सही अर्थोंमें सभीके भाईजी हैं। उनकी आत्मीयता जाति, धर्म एवं देशकी सीमामें आबद्ध नहीं है, वह सबको सहज ही सुलभ है। उनके विचार एवं व्यवहारमें 'पर' कोई है ही नहीं। वे सबके 'भाईजी' हैं। दूसरे, श्रीभाईजीके पास अपना कुछ भी नहीं है, पर सेवा-कार्योंके लिये उन्हें कभी धनकी कमी अनुभव नहीं होती है (He has no money, but he lacks no money:)।" सचमुच श्रीभाईजीको सेवा-कार्योंके लिये कभी धनकी कमी अनुभव नहीं हुई। वे बराबर कहते थे—"सेवा करनेवालोंकी कमी है, धनकी नहीं। वह तो आयेगा ही ईश्वरकी कृपासे। पर सेवा होनी चाहिये सच्चे अर्थमें।'

देशके प्रायः सभी भागोंसे उनके पास प्रतिदिन अनेकों पत्र ऐसे व्यक्तियोंके आते थे, जो अपनी या अपने परिवारकी चिकित्साके लिये, परीक्षाकी फीस देने या पुस्तकें खरीदनेके लिये, बच्चोंके अन्न-वस्त्रकी व्यवस्था करनेके लिये, कन्याके विवाहके लिये, अपनी गायोंके लिये अन्न-घासकी व्यवस्था करने आदि कार्योंके लिये उनसे आर्थिक सहयोगकी प्रार्थना करते थे। उन पत्रोंको श्रीभाईजी स्वयं पढ़ते और यथासाध्य सहायता भिजवानेका प्रयत्न करते थे—किसीको मनीआर्डरद्वारा, किसीको बीमाद्वारा। प्रतिदिन अनेकों व्यक्ति उनके यहाँ पधारकर अपनी माँग रखते थे और उनमेंसे एक भी खाली हाथ नहीं लौटता था। श्रीभाईजी सभीको कुछ-न-कुछ सेवा करके ही विदा करते थे।

श्रीभाईजीकी यह सेवा इतनी सहज, शान्त एवं प्रच्छन्न रूपमें सम्पन्न होती रही है कि उनके परिवारके सदस्य एवं अत्यन्त निकटके स्वजन भी उसे नहीं जान पाते थे। 'दाहिना हाथ जो दे, उसे बायाँ हाथ न जान पाये'—यह उक्ति श्रीभाईजीपर पूर्णरूपसे चरितार्थ होती है। इतना ही नहीं, जब कभी वे प्रत्यक्षमें किसीको कुछ देते थे तो उनके मुखपर दैन्य, करुणा, कृतज्ञता, संकोच आदिके भाव इतने स्पष्ट होते थे कि सामनेवालेका हृदय उनके प्रति श्रद्धासे नत हो जाता था कि यह दाता भी कितना विचित्र है कि देते समय 'संकुचित' हो रहा है।

यह उदारतापूर्ण सेवावृत्ति श्रीभाईजीमें जीवनके आरम्भसे ही थी। जब वे व्यवसाय करते थे, तब भी उनका स्वभाव इसी प्रकार उदार एवं सेवामय था। 'कल्याण' एवं गीताप्रेसकी सेवाओंमें लगनेके पश्चात् तो उनके शरीरका एक-एक कण तथा जीवनका एक-एक श्वास विश्वरूप प्रभुकी सेवामें नियोजित रहा। 'कल्याण' एवं गीताप्रेसके प्रकाशनोंद्वारा वे ज्ञानका तो मुक्तहस्तसे वितरण करते ही थे, साथ ही वे भौतिक पदार्थों-साधनोंद्वारा 'आर्त-नारायण'की सेवा करनेमें निरन्तर संलग्न रहे। अन्तिम बीमारीमें भी जबतक उनमें कुछ शक्ति रही, वे अपने नाम आये अभावग्रस्त व्यक्तियोंके पत्र स्वयं पढ़ते-सुनते रहे और अपने स्वजनोंके द्वारा उन्हें सहायता भिजवाते रहे। यह क्रम १३ मार्च तक चलता रहा। लगता है, उस दिन श्रीभाईजीको यह अनुभव हो गया था कि अब उनका शरीर भगवान्‌के विधानानुसार रहनेका नहीं है और अब उनमें बोलने, ठीकसे संकेत करनेकी भी सामर्थ्य अवशेष नहीं रह गयी थी। अतएव उस रात्रिमें उन्होंने अपने सेवाके हिसाबकी सब कापियाँ नष्ट करवा दीं एवं जो धन-राशि अवशेष थी, उसके वितरण सूची लिखवा दी। इसके पश्चात् उन्होंने बड़े विनम्र शब्दोंमें—अपने परिवार एवं स्वजनोंको सेवा-भावनाको अक्षुण्ण रूपमें अपनाये रखनेके लिये प्रेरित करते हुए अपने सेवा-आदर्शका स्वरूप संक्षेपमें बताया—

"गोरखपुर आनेके पश्चात् (सन् १९२७ से) अर्थकी दृष्टिसे मैं निःस्व रहा हूँ—न मेरे पास अपना एक पैसा है, न कहीं कुछ जमा है, न मैंने कुछ कमाया है। गीताप्रेस,

'कल्याण' या अन्य किसी भी संस्थासे मेरा आर्थिक सम्बन्ध नहीं रहा है। न मैंने भेंट-पूजा-उपहारके रूपमें किसीसे भी एक पैसा कभी लिया है। अवश्य ही मेरेद्वारा विभिन्न संस्थाओंकी, भूकम्प-बाढ़-अकाल-अग्निदाह आदि दैवी प्रकोपोंसे पीड़ित प्राणियोंकी एवं विधवा बहिनोंकी सहायतामें प्रचुर अर्थ व्यय हुआ है (कई करोड़ रुपये अबतक व्यय हो चुके होंगे); पर वस्तुतः उसमें मेरा कुछ भी नहीं है। यह सब हुआ है उन लोगोंके भाग्यसे और दाताओंके भगवत्प्रेरित या स्वेच्छाप्रेरित दानसे। इसके लिये भी किसीपर दबाव डालनेकी बात ही नहीं। मैंने न तो किसीसे माँगा है, न अपील की है, वरं परिस्थितिवश कभी-कभी दानकी रकम पूरी-की-पूरी या अधूरी वापिस कर दी है। जब 'भारतीय चतुर्धाम-वेद-भवन-न्यास'का निर्माण हुआ और उसके लिये दानकी अपील प्रकाशित हुई, तब उसमें सब ट्रस्टियोंके साथ मेरा नाम भी प्रकाशित कर दिया गया। पर मैंने उसमेंसे अपना नाम निकलवा दिया और तब उन पत्रोंको भिजवाया। मैंने कभी अर्थके लिये की जानेवाली अपीलमें अपना नाम नहीं दिया है। इस प्रकारकी सहायताके लिये जो पैसे आते थे, उनमेंसे मैंने एक-एक पैसेका हिसाब रखा है; किसकी सेवामें वे पैसे लगे, यह भी बराबर लिखता रहा हूँ। तीन वर्षतक उस हिसाबको रखता था। तीन वर्षके पश्चात् उस हिसाबको नष्ट कर डालता था। कहाँसे पैसा आया, किस-किसको दिया गया—इसको मैंने यथासम्भव किसीपर प्रकट नहीं होने दिया। मनीआर्डर-बीमा जिन स्वजनोंकी मार्फत करवाता था, उन्हें भी यथासम्भव नाम ज्ञात नहीं होने देता था। कारण, मैंने जिसको जो कुछ दिया है, वह भगवद्भाव-से दिया है; वह मेरी अर्चाका एक स्वरूप रहा है। जिस कार्यके लिये जितने पैसे प्राप्त होते थे, उस कार्यमें उतने पैसे अवश्य लगा देता था। चेष्टा तो यह रखता था कि उसमें कुछ अपने पाससे भी सम्मिलित कर दूँ। मेरे पासका अर्थ है—मेरे ऐसे साथी, ऐसे स्वजन, जिनका मुझसे कोई अलगाव न रहा हो।"

सेवाको श्रीभाईजी मानवमात्रके लिये श्वास-प्रश्वासकी भाँति अनिवार्य मानते थे। सेवाकी अनिवार्यता एवं स्वरूपका विवेचन करते हुए उन्होंने लिखा है—

"जिसके पास जो कुछ है, वह सब-का-सब 'परार्थ' है, सबका मिला हुआ—सम्मिलित धन है, उसमें सबका भाग है, वह सबका है, उसका नहीं है। जहाँ-जहाँ उसकी आवश्यकता हो, वहाँ-वहाँ सम्मान, श्रद्धा, सद्भाव, उदारता, सदाशयता एवं समादरके साथ उसका उपयोग करना कर्तव्य है।"

× × ×

"अपनी सारी, सब प्रकारकी सम्पत्तिपर सबका—विश्वरूप भगवान्का अधिकार मानकर, जहाँ-जहाँ दीन हैं, जहाँ-जहाँ गरीब हैं, जहाँ-जहाँ अभावग्रस्त हैं, असमर्थ हैं, वहाँ-वहाँ तत्तद् उपयोगी सामग्रीके द्वारा उनकी सेवामें लगाते रहो। मनुष्यके व्यवहारमें—मानवजीवनमें एक बात अवश्य आ जानी चाहिये कि अपने पास विद्या, बुद्धि, धन, सम्पत्ति, भूमि, भवन, तन, मन, इन्द्रिय जो कुछ है, उससे जहाँ-जहाँ अभावकी पूर्ति होती हो, वहाँ-वहाँ उन्हें लगाता रहे। ऐसा करना ही पुण्य है—सत्कर्म है, धर्म है।"

× × ×

"जहाँ अन्नका अभाव है, वहाँ भगवान् अन्नके द्वारा तुम्हारी सेवा चाहते हैं, जहाँ जलका अभाव है, वहाँ जलके द्वारा, जहाँ वस्त्रका अभाव है, वहाँ वस्त्रके द्वारा और जहाँ आश्रयका अभाव है, वहाँ आश्रयके द्वारा।"

× × ×

"इस बातको खूब याद कर लें कि हमारे पास जो कुछ है, वह दीनोंके लिये, अनाथोंके लिये और गरीबोंके लिये ही है। उन्हींके हककी चीज है। गीतामें भगवान् कहते हैं कि 'अपनी शक्ति, सम्पत्ति, जीवन—सबको देकर उसके बाद जो कुछ बचे, उससे अपना काम निकाले। यह जो बचा हुआ है, वही 'यज्ञावशेष' है। इस प्रसादको व्यवहारमें लानेसे सारे पापोंका नाश होता है'—

'यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।'

—पर 'जो अपने लिये ही सब कुछ करते हैं, कमाते खाते हैं, वे पाप खाते हैं'—

'भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।'

'जो इन्द्रियाराम है, वह पापमय-जीवन है, वह व्यर्थ ही जीता है'—

'अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति।'

वह पाप खाता है। अतः पाप मत खाइये। सबको सबका हक देकर, सबका स्वत्व देकर, बचे

दुएसे अपना निर्वाह कीजिये। वह अमृत है। वही यज्ञावशेष है। यह कभी मत मानो कि 'मेरे पास जो सम्पत्ति है, वह मेरी है।' तुम उसके ट्रस्टी हो, व्यवस्थापक हो, मैनेजर हो; उसे भगवान्‌की समझो और उसे भगवान्‌की सेवामें यथायोग्य लगाकर धन्य हो जाओ। तभी तुम भगवान्‌के ईमानदार सेवक हो और यदि उसे तुमने अपनी माना और अपने उपयोगमें लिया, तो तुम चोर हो, पापी हो; उसका दण्ड तुम्हें मिलेगा।"

"आजके युगमें सहायताका विज्ञापन पहले किया जाता है, सहायता पीछे की जाती है। यह निन्दनीय और हानिकारक चीज है। चाहिये तो यह कि हम जैसे अपने दुःख-को दूर करनेमें लगते हैं, वैसे ही दूसरेके दुःखको दूर करनेमें लग जायँ। कोई अपने दुःखको दूर करनेमें क्या गौरव मानते हैं? क्या वे अपने ऊपर उपकार मानते हैं? बाढ़ आनेवाली हो और हम अपनी झोपड़ीकी चीजें बाहर सुरक्षित स्थानमें ले जायँ, इसमें गौरवकी बात क्या है? ऐसा किये बिना हम रह ही नहीं सकते। ठीक इसी प्रकार अपने द्वारा होनेवाली दीनोंकी सेवाके लिये मनमें तनिक भी गौरव-बुद्धि न हो—अहंताका तनिक भी स्पर्श न हो, उनका स्वत्व मानकर सेवा करें। यह ध्यान रहे कि हमारी सेवा किसीके सिरको कभी नीचा न कर दे। 'मैं गरीब, सहायताका पात्र हूँ और ये मेरे सहायक हैं'—हमारे किसी बर्तावसे ऐसा उसके मनमें न आने पाये।"

× × ×

"जहाँतक हो सके सेवाको प्रकट न होने दो, प्रकट करनेकी चेष्टा मत करो। प्रकट हो जाय तो सकुचाओ और सच्चे मनसे उसका श्रेय भगवान्‌की कृपाको दो।

"सेवा करके अभिमान न करो; जिसकी सेवा करते हो, उससे कुछ चाहो मत, उससे किसी बातकी आशा न करो। वह हमारा कृतज्ञ हो, ऐसी कल्पना मनमें मत उठने दो। उसपर कोई अहसान न जनाओ। उसपर अपना अधिकार न मानो। उसके दोषोंको—अभावोंको देखकर घबराओ मत। उसपर झुँझलाओ मत। उसका तिरस्कार न करो।

"सेवा करके विज्ञापन न करो। जिसकी सेवा की है, उसपर बोझ मत डालो; नहीं तो तुम्हारी सेवा पुनः स्वीकार करनेमें उसे संकोच होगा और पिछली सेवाके लिये, जो उसने स्वीकार की थी, उसके मनमें पछतावा होगा।"

यह है श्रीभाईजीके द्वारा प्रतिष्ठित सेवाका आदर्श और उनका जीवन इस आदर्शके सर्वथा अनुरूप था। इस प्रकार श्रीभाईजीने अपने जीवनसे शिक्षा दी है कि 'जबतक मनुष्यको अपने शरीरका, अपने खान-पान, सुख-सुविधाका भान है, तबतक उसे प्राणिमात्रके दुःख-दर्दकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये; अपितु उसे चाहिये कि वह प्राणिमात्रके दुःख-दर्द-को अपना दुःख-दर्द अनुभव करे और उसके शमनके लिये अपना सब-कुछ होम दे।'

श्रीभाईजीका यह सेवा-आदर्श सेवा करनेवालोंके लिये सदा प्रकाश-स्तम्भकी भाँति मार्ग-दर्शन करता रहेगा!

—कृष्णचन्द्र अग्रवाल

(२)

हिंदू नारीका अदम्य साहस

वनगमनके समय श्रीसीताजीके मुँहसे गोस्वामी तुलसीदासजीने कहलाया है—

मातु पिता भगिनी प्रिय भाई। प्रिय परिवारु सुहृद समुदाई॥
सासु ससुर गुरु सजन सहाई। सुत सुंदर सुसील सुखदाई॥
जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहि तरनिहु ते ताते॥
तनु धनु धामु धरनि पुर राजू। पति बिहीन सबु सोक समाजू॥
भोग रोग सम भूषन भारू। जम जातना सरिस संसारू॥
जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी॥

भारतीय नारीका आराध्य एकमात्र पति है। पति-विहीन नारी मृतकतुल्य हो जाती है। इसलिये संस्कारवती नारी पतिकी मृत्युपर सहमरणकी इच्छुक हो उठती है। भारतका इतिहास ऐसी प्रातःस्मरणीया अनेक नारियोंके वृत्तान्तोंसे भरा हुआ है। इसमें भी राजस्थानका प्रमुख हाथ रहा है। अभी-अभी १६ जनवरीको राजस्थानमें ऐसी ही एक घटना घटित हो गयी।

ग्राम मांडलगढ़ (जिला भीलवाड़ा) के निवासी श्रीअमृतलालजी ओझा R. A. S., D. O. के सुपुत्र श्रीअखिलेशचन्द्रजी ओझा बी. ए. एल्-एल्० बी० एडवोकेटकी हृद्गति रुक जानेसे गत १६ जनवरीको मृत्यु हो गयी। इस समय उनकी आयु ३६ वर्षकी थी। वे अपने एक मुकद्दमेको निपटाकर एक शादीमें शामिल होनेके लिये कदमपुर जा रहे थे। दो स्टेशन पार करते ही मावली जंक्शनपर उनके हृदयकी गति रुक गयी। 'हे भगवान्! हे भगवान्!' कहते-कहते उन्होंने प्राण छोड़ दिये।

डाक्टरी मदद वहाँ पहुँची, किंतु सब बेकार हुई। उनका शव भीलवाड़ा लाया गया। यहीं रहकर वे अपनी वकालत कर रहे थे।

उनकी पत्नी श्रीमती विमलादेवी, जिनकी आयु इस समय ३२ वर्षकी थी, एक संस्कारवती धार्मिक महिला थीं। वे उस समय अपने भाईके पास थीं। उन्हें जीपमें वहाँसे लाया गया। पतिकी मृत्यु देखकर उन्होंने भी अपने मनमें सहमरणका संकल्प ले लिया।

श्रीअखिलेशजीका शव एक फर्लांग भी न गया होगा कि वे न जाने कब घरके भीतर घुस गयीं। दरवाजा बंद कर आत्मदाह कर लिया। यह अभीतक रहस्य बना हुआ है कि उन्होंने किस साधनका उपयोग किया; क्योंकि जब किवाड़ तोड़े गये तो वहाँ आगकी एक लौ जलती हुई दिखायी दी। न उनके कपड़े जले और न बाल ही। पर शरीरसे प्राण निकल चुके थे।

तुरंत ही श्मशानपर खबर भेजी गयी। शव-यात्राकी तैयारी कर उन्हें भी श्मशान ले जाया गया और दोनोंका एक ही चितापर रखकर दाह-संस्कार किया गया।

दाह-संस्कारमें हजारों आदमी थे, जो बिलख-बिलखकर इस अद्भुत और रोमाञ्चकारी दृश्यको देख रहे थे। साथ ही देवीकी पतिभक्ति, धर्मानुराग और साहसकी प्रशंसा भी करते जाते थे। इस अवसरपर राजस्थानके सिंचाई मन्त्री श्रीलड्ढा, श्रीरामचन्द्रजी व्यास एम्० पी०, जिलाधीश तथा जिला जजके अतिरिक्त अनेक एडवोकेट भी श्मशानपर उपस्थित थे। श्रीमती विमलादेवीके नैहर, मांडलगढमें उनके पिता श्री श्रीजडावचन्द्रजी पुरोहितके यहाँ जाकर राजस्थानके तत्कालीन मुख्यमन्त्री श्रीमोहनलालजी सुखाडिया, शिक्षामन्त्री श्रीशिवचरण तथा अन्य मन्त्रियोंने, जिनमेंसे श्रीबृजसुन्दरजी शर्मा तथा हरदेवजी जोशी आदि प्रमुख हैं, श्रीमती विमलादेवीके अदम्य साहसकी प्रशंसा की।

बार ऐसोसियेशन, भीलवाडाने अपने साथी एडवोकेटकी इस तरहकी मृत्यु एवं पत्नीके सती होनेपर शोक-प्रस्ताव पास किया, युगल-जोड़ीके चित्र बार रूममें लगाये तथा श्रीमती विमला-देवीके नामपर लाइब्रेरीकी स्थापना की है।

—शिवमनोहर व्यास

(३)

एक लाख रुपयेपर ठोकर मार दी

इण्डियन आयल रिफाइनरीके एक जर्मन इंजीनियरकी जीप कच्चे रास्तेपर बड़ी तेजीसे चली जा रही थी। पासमें ही मुंगेरका गनगौर ग्राम था। ऊबड़-खाबड़ सड़कपर इंजीनियरका सूटकेस कब गिर गया, इसका उन्हें पता ही न चला। पासके ही खेतमें उस गाँवका एक किसान काम कर रहा था। उसने वह सूटकेस देखा तो उसे अपने घर नहीं ले गया। सोचा, भले ही इसमें कुछ भी हो, मुझे खोलनेसे क्या लाभ, यह तो उसके मालिकको देना ही है। अतः वह पंचायत दफ्तरमें जाकर जमा कर आया।

तलाश करते हुए वह इंजीनियर जब उस गाँवमें आये तो सरपंचद्वारा वह सूटकेस वापस कर दिया गया। सूटकेस खोलकर देखा तो उसमें एक लाख रुपये तथा अन्य जरूरी कागजात—सभी वस्तुएँ सुरक्षित थीं। इंजीनियरने उस ईमानदार व्यक्तिसे मिलनेकी इच्छा व्यक्त की, जिसने उस सूटकेसको पंचायतघरमें लाकर जमा किया था।

थोड़ी ही देरमें उस किसानको भी बुलाकर वहाँ उपस्थित किया गया। इंजीनियरने उसकी पीठ ठोकते हुए सौ रुपयेका एक नोट पुरस्कारस्वरूप देना चाहा; पर उसने रुपये लेनेसे इन्कार करते हुए कहा—'मैं आपसे इतना ही चाहता हूँ कि आप अपने देश जाकर भारतको भी स्मरण रखें।'

—'युग-निर्माण-योजना'

(४)

प्रार्थनासे कैंसर अच्छा हुआ

स्काटलैण्डके ग्लासगो नामक स्थानमें एक छः वर्षकी बालिका कैंसर-रोगसे ग्रस्त थी। सभी प्रमुख चिकित्सकोंने इस बातकी घोषणा कर दी थी कि 'बच्ची अब केवल एक सप्ताहकी मेहमान है।' उसका अन्त समय निकट जानकर उसकी माता फ्रांसके रोमन कैथेलिक चर्चमें उसे ले गयी। लोगोंके आश्चर्यका उस समय ठिकाना न रहा, जब फ्रांसेस बर्न नामक उक्त लड़की वहाँसे तन्दुरुस्त होकर घर लौटी। अब उसे कैंसरकी कोई शिकायत नहीं है। वह सामान्य लोगोंकी भाँति ही रहती है। उसने खेलना भी प्रारम्भ कर दिया है और वह स्कूल भी जाती है। ग्लासगोमें उसकी चिकित्सा करनेवाले डाक्टरोंका भी कहना है कि वर्त्तमान चिकित्सापद्धतिद्वारा इसका इलाज असम्भव था, लेकिन आश्चर्य है कि वह कैसे इस घातक रोगसे छुटकारा पा सकी। इसे एक करिश्मा ही कहा जायगा कि चर्चमें जानेपर केवल प्रार्थनाके बलपर ही उसकी हालत बिना किसी चिकित्साके सुधरने लगी।

—'आज'

(५)
श्रीहनुमान्‌जीकी कृपा

करीब डेढ़ महीने पहलेकी बात है । मैं दाँतकी बीमारीसे बेचैन रहा करता था । दवाई चलती ही थी । इसी बीच दिनमें मेरी स्त्रीके पेटमें एकाएक दर्द होने लगा । दर्दने बढ़ते-बढ़ते शामतक विकराल रूप धारण कर लिया । वर्षा मूसलधार बरस रही थी । किसी तरह मैं एक आदमीको बुलाने गया । लेकिन वे सज्जन भी वर्षाके कारण मेरे घरतक नहीं आ सके, फिर भी उन्होंने दवाई बतला दी । घर लौटकर दवाई बनाकर लाया । किसी तरह पत्नीको उठाकर दवाई दी गयी । एक घूँट भी नहीं पी सकी थी कि वह पुनः लेट गयी । दर्दके कारण बैठ नहीं सकती थी । अब मैं बड़ी मुसीबतमें पड़ गया । एक तो मेरी हालत खराब, दूसरे मेरी स्त्रीकी । मनमें सोचा कि 'इस समय मेरे ऊपर विपत्ति आ पड़ी है, घबराना नहीं चाहिये । भगवान्‌के हाथमें सब है ।' एकाएक मेरे ध्यानमें आया कि 'इस समय श्रीहनुमानचालीसाका पाठ शुरू कर दूँ तो जरूर कुछ अच्छा होगा ।' मैंने तुरंत पत्नीके शरीरपर हाथ रखकर श्रीहनुमानचालीसाका पाठ प्रारम्भ कर दिया । ठीक बीस मिनटके बाद मेरी पत्नीकी हालत सुधरने लगी । आध घंटेके बाद तो वह उठकर बैठ गयी । मुझे बड़ी खुशी हुई कि बेचैन रोगी तुरंत उठकर बैठ गया । मनमें महावीरजीके प्रति बड़ी श्रद्धा हुई । एक घंटेके बाद उसने भोजन भी किया । रातमें आरामसे विश्राम किया ।

श्रीहनुमान्‌जीसे की गयी विनतीने, स्तुतिने अपना प्रभाव दिखाया ।

—अनूपलाल मंडल

(६)
तमाचेकी कीमत कैसे भूल सकता हूँ

गुरुपूर्णिमाके दिन मैं कालेजके प्रिंसिपल अपने एक मित्रके बँगलेपर गया था । प्रिंसिपल अपने इष्टदेवकी पूजा कर रहे थे । पूजा करनेके बाद उन्होंने फूलोंका एक हार अपने इष्टदेवको पहनाया । दूसरा एक हार दीवानखण्डमें लगी हुई एक पुरानी जर्जरित तस्वीरको पहनाया । हाथमें डंडा, सिरपर गोल पगड़ी, अनियारी लाल आँखें तथा भरावदार मूँछोंवाली उस छविको भावपूर्वक प्रणाम करते हुए प्रिंसिपलको देखकर मैंने उनका परिचय पूछा । प्रिंसिपलने कहा—'ये मेरे गुरु हैं । आज गुरु-पूर्णिमा है, इसलिये इनके साथ जो न भूलनेवाली घटना घटी थी, वह याद आ रही है ।' मेरे आग्रहसे प्रिंसिपल अपने जीवनके उस अविस्मरणीय प्रसङ्गको कहने लगे—

"आप तो जानते ही हैं कि मैं अपने माँ-बापका अकेला लड़ैता लड़का हूँ । माँ-बापके धनी होनेके कारण मैं खूब प्यारमें पलने लगा । बुरी संगत होनेके कारण मुझे पढ़ने-लिखनेसे नफरत होने लगी । पिताजीको भी शिक्षामें कोई रस नहीं था । माँ मुझे अनेक बार समझाती, परंतु मैं उसकी बातपर ध्यान ही नहीं देता था । पाठशालामें खूब ऊधम मचाता । अध्यापकोंके उलाहने आने लगे । अन्तमें परीशान होकर पिताजीने घरपर पढ़ानेके लिये अध्यापक रखे । बिचारे अध्यापक आते, किंतु उनका अपमान और शरारत करके मैं उन्हें भगा देता । पिताजीने इसे समझा । मैं जब उनके शासनसे बाहर होने लगा, तब उन्हें भारी चिन्ता होने लगी । उन्होंने मुझे ठीक रास्तेपर लानेके लिये कई मनोविज्ञानशास्त्री तथा अच्छे अध्यापकोंकी सहायता ली, परंतु परिणाम कुछ न निकला । मुझसे जो प्रश्न पूछे जाते, मैं उसका चलता-फिरता जवाब दे देता । सब थक गये । अन्तमें एक शिक्षक आये । उन्हें देखकर मैंने उनकी हँसी उड़ाते हुए कहा—'मास्टर ! आप मुझे पढ़ाने आये हैं ?'

"वे कुछ बोले नहीं, मैंने उनकी और अधिक हँसी उड़ाते हुए कहा—'अरे पण्डितजी ! वापस चले जाइये । आप मुझे क्या पढ़ायेंगे ! आप-जैसे तो कई आये और गये ।' यह कहकर मैं जोरसे हँसने लगा । वे शिक्षक कुछ बोले नहीं, केवल मेरी तरफ देखते रहे । मैं हँसी उड़ाता रहा—'आप मुझे पढ़ायेंगे ! वाह ! जरा देखूँ तो सही ।' मैं आगे और कुछ कहूँ, इसके पहले उनका जोरदार तमाचा मेरे गालपर पड़ा, उनकी लाल आँखोंसे मैं अपनी आँख नहीं मिला सका । जीवनमें पहली ही बार मैंने तमाचा खाया था और ऊपरसे मुझे सुननेको मिला कि 'सीधी तरह पढ़ना है कि सारी जिंदगी भीख माँगनी है ?'

"तमाचेके साथ मेरे हितकी इतनी चिन्ता गुरुवरको है, इस विचारने मेरी जिंदगी बदल दी । दूसरे दिनसे मेरी नयी जिंदगी शुरू हुई । आज मुझे मेरे ये सच्चे विद्या-गुरुजी याद आते हैं । बिना किसी भी स्वार्थके, मेरी माता-पिताकी परवा किये बिना, केवल मेरी जिंदगी सुधारनेके लिये, मुझे तमाचा मारनेवाले यदि ये गुरुजी न मिले होते तो मैं आज प्रिंसिपलकी जगहके बदले कौड़ीके भाव भी न पूछा जाता । इस तमाचेकी कीमत मैं कैसे भूल सकता हूँ ।"

अपने इन गुरुजीके फोटोकी वन्दना कर प्रिंसिपल-साहब बैठ गये । 'अखण्ड आनन्द' —चन्द्रकान्त त्रिवेदी

श्रीभाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारका अमूल्य मौलिक साहित्य

परमश्रद्धेय नित्यलीलालीन श्रीभाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारने लगभग २५ हजार पृष्ठोंका अपना मौलिक साहित्य दिया है, जिसमेंसे लगभग ९ हजार पृष्ठोंका साहित्य स्वतन्त्र पुस्तकरूपमें प्रकाशित हो चुका है; बाकी साहित्य 'कल्याण'के अङ्कोंमें बिखरा पड़ा है, लोगोंके पास पत्ररूपमें है तथा गीताप्रेससे प्रकाशित विभिन्न पुस्तकोंमें संगृहीत है। इस बिखरे साहित्यको स्वतन्त्र पुस्तकरूप देनेका कार्य हो रहा है। नीचे हम उनके मुद्रित मौलिक साहित्यकी सूची दे रहे हैं—

निबन्ध-संग्रह

	निबन्ध-संख्या	पृष्ठ-संख्या	मूल्य	(अबतककी प्रकाशित प्रतियाँ)
(१) भगवच्चर्चा—भाग–१ (तुलसीदल)	२७	२८०	.६०	३८,०००
(२) भगवच्चर्चा—भाग–२ (नैवेद्य)	३४	२५८	.६०	३२,२५०
(३) भगवच्चर्चा—भाग–३	५०	४००	.९०	४०,०००
(४) भगवच्चर्चा—भाग–४	४३	४३०	.९५	१०,०००
(५) भगवच्चर्चा—भाग–५	४८	३९६	.९०	१०,०००
(६) भगवच्चर्चा—भाग–६ (पूर्ण समर्पण)	४४	३९४	.९०	११,०००
(७) भवरोगकी रामबाण दवा (विचारात्मक निबन्ध)	१०	१७२	.३५	६३,२५०
(८) श्रीराधामाधव-चिन्तन, (श्रीराधामाधवके स्वरूप, प्रेम एवं लीलातत्त्वका विशद विवेचन)		७६०	५.००	१५,०००
(९) श्रीराधामाधव-चिन्तन–परिशिष्ट		२३२	२.००	५,०००

पत्र-संग्रह

(साधना एवं व्यवहारके सम्बन्धमें पत्ररूपमें दिये गये निर्देश)

	पत्र-संख्या	पृष्ठ-संख्या	मूल्य	
(१०) लोक-परलोकका सुधार—भाग–१	६८	२२०	.४५	३५,२५०
(११) लोक-परलोकका सुधार—भाग–२	६५	२४४	.४५	३१,२५०
(१२) लोक-परलोकका सुधार—भाग–३	९३	२८२	.६०	१५,०००
(१३) लोक-परलोकका सुधार—भाग–४	९४	२८०	.६०	१५,०००
(१४) लोक-परलोकका सुधार—भाग–५	९६	२६२	.६०	१५,०००

पद-संग्रह

(खड़ी बोली, व्रजभाषा एवं राजस्थानीके पदोंका संग्रह)

	पद-संख्या	पृष्ठ-संख्या	मूल्य	
(१५) पत्र-पुष्प (भजन-संग्रह भाग–५)	११४	११२	.१५	३,२५,०००
(१६) प्रार्थना-पीयूष	१६	२५	.१५	१५,०००
(१७) हरिप्रेरित हृदयकी वाणी	३२५	१८२	१.४०	५,०००
(१८) श्रीराधामाधव-रस-सुधा (खड़ी बोलीके अनुवादसहित)	१६	४४	.३०	५,०००
(१९) श्रीराधामाधव-रस-सुधा (व्रजभाषाके अनुवादसहित)	१६	४२	.२०	१९,०००
(२०) श्रीराधामाधव-रस-सुधा (केवल मूल)	१६	४०	.१०	२०,०००
(२१) व्रजरस-माधुरी	२५१	२५२	.७०	५,०००
(२२) व्रजरसकी लहरें	३२५	२३८	१.७०	५,०००
(२३) मधुर भाग–१ (झाँकी सं० ४०)	५७	१७०	.६५	१०,०००
(२४) मधुर भाग–२ (झाँकी सं० ३२)	५०	१५२	.६०	१०,०००
(२५) शिव-चालीसा		२४	.०८	४,२०,०००

समाज-निर्माणात्मक-साहित्य

	पृष्ठ-संख्या	मूल्य	
(२६) हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप	२४	.०८	१,००,०००
(२७) सिनेमा—मनोरंजन या विनाशका साधन	२४	.०८	१,९०,०००
(२८) विवाहमें दहेज	१२	.०४	१,१०,०००

	पृष्ठ-संख्या	मूल्य	
(२९) नारी-शिक्षा	१६८	.४५	२,९०,०००
(३०) स्त्री-धर्म-प्रश्नोत्तरी	५६	.१२	५,६०,०००
(३१) वर्तमान शिक्षा	४८	.१२	६९,२५०
(३२) गो-वध—भारतका कलंक	३२	.०४	१,६०,०००
(३३) बलपूर्वक देवमन्दिर-प्रवेश और भक्ति	१२	.०४	२६,०००

साधना-साहित्य

(३४) मानव-धर्म	९६	.२५	१,२९,०००
(३५) साधन-पथ	६८	.२०	१,००,०००
(३६) श्रीराधा-जन्माष्टमी-व्रत-महोत्सवकी प्राचीनता, महिमा और पूजाविधि	७२	.३०	५,०००
(३७) मनको वशमें करनेके कुछ उपाय	२४	.१०	३,०५,०००
(३८) श्रीभगवन्नाम	७८	.०८	१,३१,२५०
(३९) दिव्य सन्देश	१६	.०३	२,६०,०००
(४०) गीतामें विश्वरूप-दर्शन	१६	.०८	२५,०००
(४१) ब्रह्मचर्य	३१	.०८	४२,०००
(४२) सत्सङ्गके बिखरे मोती	२४४	.९०	७०,२५०
(४३) मनुष्य सर्वप्रिय और सफल-जीवन कैसे बने !	१६	.०७	२०,०००
(४४) जीवनमें उतारनेकी सोलह बातें	८	.०३	१०,०००
(४५) कल्याणकारी आचरण	३२	.१५	३०,०००
(४६) प्रार्थना	५६	.२५	१,०५,२५०
(४७) गोपी-प्रेम	५२	.१२	१,४५,२५०
(४८) रस और भाव	२४	.१५	८,०००

उद्बोधक-साहित्य

(जीवनमें आशा, उत्साह, स्फूर्ति प्रदान करनेवाला साहित्य)

	लेख-संख्या	पृष्ठ-संख्या	मूल्य	
(४९) कल्याण-कुंज भाग—१	२७	१३६	.३०	१,०२,२५०
(५०) कल्याण-कुंज भाग—२	४६	१६०	.३५	४५,०००
(५१) कल्याण-कुंज भाग—३	६३	१२४	.४५	४०,०००
(५२) मानव-कल्याणके साधन (कल्याण-कुंज भाग—४)	८८	२६२	१.००	१५,०००
(५३) दिव्य सुखकी सरिता—(कल्याण-कुंज भाग—५)	३८	११४	.५०	१५,०००
(५४) सफलताके शिखरकी सीढ़ियाँ—(कल्याण-कुंज भाग—६)	४९	१४५	.६२	१५,०००
(५५) दैनिक कल्याण-सूत्र		९०	.२५	३५,०००
(५६) आनन्दकी लहरें		२४	.०८	३,१०,२५०
(५७) दीन-दुखियोंके प्रति कर्तव्य		२६	.०८	३५,०००

भक्त-गाथा-साहित्य

(५८) उपनिषदोंके चौदह रत्न (गीताप्रेससे प्रकाशित भक्त-चरित्रोंमें अधिक चरित्र उन्हींके लिखे हुए हैं)	८८	.४५	८४,२५०

टीका-साहित्य

(५९) प्रेम-दर्शन (श्रीनारदभक्तिसूत्रोंकी विस्तृत व्याख्या—हिन्दीमें)	१८८	.३५	१४,२५०

श्रीभाईजीकी मौलिक पुस्तकोंकी संख्या ५९ है। पूरे सेटका मूल्य २९.१२, कमीशन २.९२ बाद देनेपर २६.२० मूल्य, रजिस्ट्री-खर्च १.२०, कुल २७.४० रेल्पार्सलद्वारा मँगानेवालेको भेजना चाहिये। डाकसे मँगानेवालेको डाकखर्च अलगसे लगेगा।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)